



भारतेन्दु हरिश्चन्द्र कृत

# श्री चन्द्रावली नाटिका

( विस्तृत भूमिका तथा संशोधित मूल-पाठ )

सम्पादक

डॉ० जयशंकर त्रिपाठी

साहित्याचार्य, एम० ए०, डी० फिल०

**लोकभारती प्रकाशन**

१५-ए, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद-१

सोवभारती प्रकाशन  
 १५-ए महात्मा गांधी मार्ग  
 इलाहाबाद ? द्वारा प्रकाशित

•  
 • सोवभारती प्रकाशन

•  
 पुष्पनया संगोपित वाड  
 प्रथम संस्करण १९६७

•  
 सरस्वती बलिगित हाउस  
 इलाहाबाद द्वारा प्रकाशित

मूल्य २५०

हिन्दी में मनोवैज्ञानिक समीक्षा के  
प्रतिष्ठाता  
डॉ० हरवंशलाल शर्मा को  
सादर भेंट

लोकभारती प्रकाशन  
१५-ए महारमा गंधी मार्ग  
इलाहाबाद १ द्वारा प्रकाशित

●  
० लोकभारती प्रकाशन

●  
पुष्पपा संतोषित वाउ  
प्रथम संस्करण १९६७

●  
सरस्वती बालिका हाउस  
इलाहाबाद द्वारा प्रकाशित

मूल्य २५०

हिन्दी में मनोवैज्ञानिक समीक्षा के  
प्रतिष्ठाता  
डॉ० हरवंशलाल शर्मा को  
सादर भेंट



## अनुक्रम



भूमिका	....	६
मूल पाठ	....	४६
शब्दार्थ और टिप्पणी	....	११७





# भूमिका

भारतीय नाट्य-कला की मूल प्रेरणाएँ और स्वरूप

हमारी चिन्तन-परम्परा में वेद सभी विद्याओं के मूल माने जाते हैं। नाटक के भी तत्त्व वेद में वर्तमान हैं। परन्तु भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में जैसा कि उल्लेख है<sup>१</sup> उस प्रकार नाटक के जन्म की कहानी की सगति उन तत्त्वों से नहीं बैठायी जा सकती। यह ठीक है कि ऋक् वेद का सवाद, साम वेद का गान, यजुर्वेद का अभिनय और अथर्ववेद का रस—नाट्य के ये चार मूल तत्त्व हैं किन्तु आचार्य भरत द्वारा इन तत्त्वों का मूल वेद में खोजने के पहले कही न कही ये तत्त्व एक साथ मिलकर नाट्य का रूप धारण कर चुके थे। और इसीलिए आचार्य भरत को इन तत्त्वों का मूल खोजने के लिए वेद की ओर जाना पड़ा। नाटक के मूलतत्त्वों में संवाद का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है, संवाद वेद में पाये जाते हैं, उपनिषद् में भी अच्छे रोचक संवाद आये हैं और ऐसे संवादों की परम्परा पतञ्जलि के महाभाष्य में भी है। इससे यह सिद्ध

---

१. नाट्यशास्त्र ( चौखम्बा संस्कृत सीरीज संस्करण, बनारस )

अध्याय १।१७

जग्राह पाठ्यमृगवेदात् सामभ्यो गीतमेव च ।

यजुर्वेदादभिनयान् रसानथर्वणादपि ॥

होता है कि स्वाध्याय करनेवाले भानुद और कौतुहल की स्पृहा से दूर अपि भी अपने दार्शनिक विवेचन को नाट्य का प्रवृत्ति से रोचक बनाते थे। किन्तु इन बातों से नाटक के जन्म की कहानी का कोई तार्किक नतीजा नहीं बटता। आशा तो यह करनी चाहिए कि नाटक के मूल रूप में संवाद बहुत घुन रहा होगा।

नाटक दृश्यकाय कहा जाता है। कालिदास ने उसे चातुष्य यन (आँखों का सुहावला यन) कहा है। यद्यपि यह नाटक की गार्हस्थ्य प्रतिष्ठा के बात की बातें हैं, तो भी नाटक का मूल सत्य यन्मे स्पष्ट है। नाटक का जो स्वरूप भाम कालिदास के युग में प्रतिष्ठित होकर शास्त्र-चिन्तन में प्रयत्न हुआ, उसमें तीन-तीन रस धाराओं का संगम होता है—(१) नतक का नृत्त-गान और (२) पात्रों का अभिनय करने-वाले अभिनेता के हाव भाव पूर्ण संवाद हृदय की ये दो रसधाराएँ रसमच्च पर स्पष्ट दिखाई देती हैं और तीसरी रसधारा होती है—(३) कवि के हृदय की मरम्बरी जो शब्द ध्वनि के माध्यम से उन्ही दानों धाराओं में छिपी रहती है। कविता के इस समावेश के कारण यह कहा जा सकता है कि कविता के जन्म के बाद जब नाटक का जन्म हुआ क्योंकि नाटक का प्रतिष्ठित रूप कविता के अवयवों को लेकर ही सर्वाङ्ग-पूर्ण होता है। परन्तु यह सर्वाङ्गपूर्णता बाद की बात है सत्य यह है कि एकमात्र नृत्त और हाव भाव की मुद्राओं द्वारा भी किसी कथा का अभिनय निरूपित जा सकता है और उसमें कवित्व-पूर्ण सहज संवाद कथा को स्वाभाविक ढंग से प्रसारित कर सकते हैं। सच में नाटक का मूल और सहज रूप यही है और उसने इसी स्वरचना में अपनी प्रथम प्राणवत्ता अर्जित की है। भरत मुनि ने भी इसी रूप में उसको देखा था, किन्तु भाम और कालिदास के हाथों से संवाद जाकर वह पुनः कविता के बिना अधूरा लगने लगा।

नाटक की पहली मुक्त-प्रेरणा आनादन और सत्प्रवृत्ति का निदर्शन

नहीं, केवल आँखों के माध्यम से होनेवाला मनोरंजन है। नाटको के अभिनय किये जाने का उल्लेख रामायण, महाभारत, कौटिलीय अर्थ-शास्त्र और पातञ्जल महाभाष्य में तो है ही ; वैदिक साहित्य में भी संगीत, नृत्य और शैल्य (नट) के प्रसंग आते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि अभिनय और नाच-गान द्वारा मनोविनोद की यह परम्परा बहुत प्राचीन है। संस्कृत में सर्वप्रथम भाम के नाटक सामने आते हैं जो सम्भवतः विक्रम की चार शताब्दी पूर्व के हैं। ये नाटक मनोविनोद की उसी परम्परा के ही परिष्कृत रूप हैं। विक्रम-पूर्व दूसरी शताब्दी के आस-पास भरत ने नाट्यशास्त्र का प्रवर्तन कर इस मनोविनोद को शास्त्र-चिन्तन का रूप दिया। नाट्यशास्त्र के निर्माण के लिए वहाँ जो प्रार्थना की गई है उसमें नाट्यकला के जन्म की मूल बातें भी सामने आती हैं। नाट्यशास्त्र के आरम्भ में उल्लेख है—

“ब्रह्मणो ! सुनो इस नाट्यवेद की उत्पत्ति, जिसका निर्माण ब्रह्मा जी ने किया था। जब स्वायम्भुव का कृतयुग बीत गया और वैवस्वत मनु के त्रेतायुग का प्रारम्भ हुआ तब उस समय वैदिक स्वाध्याय एवं धार्मिक आचार के सम्बन्ध में लोक में बड़ी अव्यवस्था फैल गयी, चारों ओर गाम्य धर्म (मनमानी आचरण) का आरम्भ हुआ। लोक-जीवन काम, क्रोध, ईर्ष्या, मोह के सुख-दुःख में विचार-मूढ़ हो उठा। जम्बूद्वीप देव, दानव, यक्ष, राक्षस एवं नाग जातियों के विस्तार से भर उठा और उनकी व्यवस्था के लिए लोकपालों की प्रतिष्ठा करनी पड़ी। तब इन्द्र आदि प्रमुख देवों ने ब्रह्माजी के पास आकर निवेदन किया—हम एक ऐसा खेल चाहते हैं जो आँखों से देखने का विषय भी हो और कान से सुनने योग्य बातें भी उसमें हों। आप जानते हैं कि वैदिक उत्सवों में शूद्र लोग भाग नहीं ले सकते, इसलिए आप पाँचवें (नाट्य) वेद का निर्माण कीजिए, जो सभी वर्णों के लोगों के लिए हो, शूद्र भी जिसमें सम्मिलित होकर समान आनन्द के भागी

बन ।' १

उक्त कथन में 'ग्राम्यधर्म की प्रवृत्ति' और सावर्णिग पञ्चम वेद का, उत्प्रेक्ष्य नाट्यकला का उद्भव पर प्रकाश डालता है अर्थात् ग्राम्य धर्म की प्रवृत्ति को स्थान देने के लिए पाँचवें नाट्यवेद का निर्माण किया गया । जातिवाद के विस्तार से जनसंख्या बढ़ चुकी थी । वेद का स्वाध्याय करनेवाले उस जनसंख्या के अनुपात में बहुत कम हो गये थे । परिणाम यह हुआ कि वैश्विक धर्म, यज्ञ और आचारनिष्ठा के ऊपर लोक-धर्म, लौकिक आचार और लोक-उत्सव चारा और अधिक अपनाये जान लगे । उन लोक सेवा में ग्राम्यधर्म की प्रमुखता थी फिर भी वे लोक धर्म को ही नहीं इन्द्र आदि लोकपाल का भी प्रिय हो उठ । इस प्रियता के कारण ही इन्द्र ने ब्रह्मा में प्रायना की—अब ग्राम्य धर्म प्रबल हो चला है, वैश्व यज्ञ लोक के आनन्द के केन्द्र नहीं रह गया, अब आज लोक में प्रचलित उमरों को जितने सभी आनन्द और

१ नाट्यशास्त्र अध्याय १।७—१२

धूपतो नाट्यवेदस्य सम्भवो ब्रह्मनिर्मित ॥  
 पूर्व कृतयुगं विना कृते स्वयम्भुवेऽन्यत् ।  
 त्रैतायुगं ऽथ सम्प्राप्तं मनोवरावनस्य च ॥  
 ग्राम्यधर्मप्रवृत्ते कामलोभव दागते ।  
 ईर्ष्याशयाभिमन्मूढं लोके सुखिनदुषिते ॥  
 देव जनक पथव-यग रणो महोरग ।  
 जम्बूद्वीपे समाराते सावर्णिकप्रतिष्ठिते ॥  
 महन्द्र प्रमुसर्वदन्तं किञ्च रितामह ।  
 श्रीहन्तरं मिच्छामोऽयम् अथ च यदुभवेत् ॥  
 न वन्द्यवहारा ऽथ मथान्य मूढवाक्पिबु ।  
 तस्मात्पूजायै वद पञ्चम सावर्णिगुत्तम ॥

शान्ति प्राप्त करते हैं, परिष्कृत करके पाँचवे नाट्यवेद का निर्माण कीजिए ।

उन लोक-उत्सवों का लक्ष्य निश्चित ही लोकमन की तृप्ति—मनोरंजन और आनन्द था, उनका मुख्य-रूप सरस लोक-कथाओं का गान और अभिनय था, पुनः उनका ही सुसंस्कृत और परिष्कृत रूप नाटक बन कर प्रतिष्ठित हुआ । लोक-अभिनय से शास्त्रीय नाटक तक की यात्रा में बीच की सन्धि लोक की प्रेम-कथाएँ हैं, शास्त्रीय नाटक की प्रतिष्ठा बहुत ऊँचे न उठ सकती अगर कवि के नाट्यकृतित्व ने लोक की प्रेम-कथाओं और उनके लोक-अभिनय को अपनी नूतन रचना में आत्मसात् न कर लिया होता । भास और कालिदास जैसे कवियों के नाट्य-कृतित्व ने लोक-अभिनय के समानान्तर काव्य-संगुम्फित शास्त्रीय नाट्यकला को खड़ा कर नाट्य के इतिहास में नये युग का सूत्रपात किया ।

संस्कृत में आरम्भ के नाटककारों ने अपनी नाट्यरचनाओं के लिए लोक की प्रेम-कथाओं का ही आश्रय लिया है । इससे दो तथ्य स्पष्ट होते हैं—(१) इन नाटककारों ने लोक में प्रचलित अभिनयों को ही परिष्कृत कर नाटक का रूप दे दिया, जैसा कि भास के नाटकों को देख कर अनुमान होता है । (२) लोक-अभिनय को आदर्श रख कर लोक-प्रसिद्ध प्रेम-गाथाओं का चुनाव ही आरम्भ की नाटक-रचनाओं में उचित समझा गया, जैसा कि कालिदास के नाटकों को और शूद्रक के मृच्छकटिक को देखने से पता चलता है, जिनकी कथावस्तुओं का समस्त सजीवन ही प्रेम-गाथा में है, भास के चार नाटक-स्वप्नवासवदत्तम्, प्रतिज्ञायौगन्ध-रायणम्, चारुदत्तम् और अविमारकम्-प्रेमकथा से सम्बद्ध हैं । 'वासव-दत्ता' का ग्रामीण अभिनय भी बहुत परिष्कृत रहा होगा, यही कारण है कि स्वप्नवासवदत्तम् नाटक रंगमंच और अभिनय की दृष्टि से संस्कृत का उत्कृष्ट नाटक है ।

भाम के मय नाटक भी लोक कथाओं से ही सम्बन्ध रखते हैं। रामायण और महाभारत की घटनाओं को लेकर लिखे गये भास के नाटक रामायण और महाभारत से मेल नहीं रखते, क्योंकि उनका आधार लोक कथाएँ हैं। रामायण की कथा पर आधारित प्रतिमा नाटकम और महाभारत से सम्बन्धित पञ्चरात्रम भी विद्वत् लोक-कथा माने हैं। इन नाटकों की कथा आगे मूल आधार रामायण और महाभारत में सम्बन्ध ही नहीं, विपरीत भी है। इन कहानियों का लोकप्रियता ने ही भास का इन पर नाटक-रचना की प्रेरणा दी होगी। यह भी ज़हन सम्भव है कि भास के सभी नाटक भास की कृति बनने के पहले लोक वं बीच अभिनय के विषय किसी न किसी रूप में रह होंगे। यह भी निश्चिन है कि लोक वं इन अभिनयों का आधार प्रायः प्रेम-कहानियाँ ही होंगी वीं दूरे विषय की कथाएँ अभिनय के लिए कम रुचिकर होती थी। उस समय अभिनय और तरण कणियों की प्रेमगाथा परस्पर पर्याय बने थे, यही कारण है कि भरत मुनि के 'नाट्ये-स्तौ रसा स्मृता' लिखने पर भास मन्वी साहित्य की नाटक-रचना में शृंगार रस को ही प्रथम दिशा गया वरुण रौद्र आदि रसों की प्रधान मान कर लिखे गये नाटक नष्ट के बराबर हैं। हास्य और वीर रस प्रधान नाटक भवश्य मिलते हैं, उनमें भी हास्यो की भूमि प्रेम-सम्बन्धों के विवृण रूप या उनकी बोरी है, प्रेम की उद्दाम वासना कुमिन रूप और सामाजिक अरुगुठन का सामिक उदनाटन है, जस— हास्यचूडामणि, लटमेलकम। वीर रस प्रधान नाटकों में भी वीर की धम-परायणा प्रेयसी का वध-सम्बन्ध सा ही जाता है, जसा कि बेणोत्तहार और महावीरचरित में है। वीर-रस वं इन नाटकों में शृंगार-रस का समावेश न भी किया जा सकता था निखने याता कवि क्या करता? उसकी अभिनय में लोक रुचि का तो रखना ही पड़ता था। नाटक में शृंगार रस का निर्वाह

अभिनय की परम्परा में लोक-रुचि का निर्वाह है। नाटक और अभिनय का जन्म ही इस लोक-रुचि के बीच हुआ।

भरत ने नाट्यशास्त्र में ग्राम्य धर्म की जिस प्रकृति का उल्लेख किया है, उस प्रकृति का संचारा हुआ रूप शृंगार-रस में डूबी प्रेम कथाओं में मिलता था, इन प्रेम-कथाओं से ही लोक-अभिनय की शुरुआत हुई। भरत ने वेदों से ग्रहण किये गये नाट्य के जिन चार तत्त्वों का उल्लेख किया है— संवाद, गीत, अभिनय और रस, इन तत्त्वों से नाटक पूरा नहीं होता है, जब तक उसमें कथा का कोई माध्यम न हो। इस प्रकार नाट्यवेद की प्रथम पूर्णता एक साथ ग्राम्य धर्म (लोक की प्रेम कथाओं) और देव धर्म (संवाद, गीत अभिनय और रस-तत्त्वों) के सम्मिलित प्रतिनिधित्व में हुई। नाटक को वेद का अंग बनाने के लिए भी, जिससे वह ऊँची शास्त्रीय प्रतिष्ठा का भाजन बने, चार तत्त्वों का आकलन हुआ।<sup>१</sup> परन्तु ये चार तत्त्व नाटक का कुछ भी उपकार नहीं कर सकते जब तक उसमें कथा का माध्यम न हो। 'दशरूपक' का रघुनाथ (११वीं पूर्वार्ध शती विजयी) ने वस्तु, नेता और रस को रूपों के भेद का आधार माना है।<sup>२</sup> यह वस्तु अर्थात् कथा नाटक के लिए प्रथम उपादान है और ग्राम्य धर्म की देन है। ग्राम्य की लोकप्रिय कथाएँ अनुकरण की जा कर धीरे-धीरे नाटक के रूप में सामने आईं। फिर कथा के माध्यम से ही तो संवाद, अभिनय, रस और नेता की अवतारणा होती है। रघुनाथ ने 'वस्तु' का नाम

१. नाट्यशास्त्र अध्याय १। १६

एव सङ्कल्प्य भगवान् सर्ववेदाननुस्मरन्।

नाट्यवेद ततश्चक्रे चतुर्वेदाङ्गसम्भवम् ॥

२. दशरूपक १। ११

वस्तु नेता रसस्तेषां भेदकं वस्तु च द्विधा।

तत्राधिकारिकं मुख्यमङ्गलं प्रासङ्गिकं विदुः ॥



ले कर विस्मृत पक्ष का मामल रगा है जो चार वदा ग गृहीत चार सवा क अनिरित नाट्य का पाँचवा सत्य है ।

यद्यपि भरत ने लोक कथा को नाट्य क सत्त्व क रूप य ग्रहण नहीं किया तथा लोकधर्मी नाट्य-परम्परा को अलग ही स्वीकृति प्रदान की तो भी उन्होंने प्राग नाट्य क विषय विस्तार को जो चर्चा की, उसमे स्पष्ट हो जाता है कि लोक-कथाया म समाहित त्रिदय ही नाट्य के अभिनेय पक्ष थ । भरत का कहना है—

“वही धम वही श्रील, वही धम, वहा धम, वहा हास्य, वही युद्ध, वही काम वही यध, धमप्रवृत्ति वालो का धम, कामोपमविषय का काम अनेक प्रकार के भावा से सम्पन्न अनर धमस्थाप्रा से व्याप्त, उत्तम, मध्यम और अधम—तीनों प्रकार के मनुष्या के धर्मों मे सम्बन्धित—एक प्रकार से लोक चरित्र की नकल कर मेन यह नाट्यबद बनाया है ।”

विषय की यह बहुलता काम, श्रील, युद्ध आदि की विविधता लोक कथाओं का स्वाभाविक रूप है । बहुरकथा दशकुमारचरित और कादम्बरी म भी इनके दशन हात हैं ।

देव-चरित और ऋषि-चरित नहीं, और न सम्राट के विजयोत्सव, वरन्ध लोक-चरित्र और लोक-कथाओं को ले कर इस नाट्यसमारोह का

१ नाट्यशास्त्र अध्याय १।१०४—१०६

वचचिद्धम वचचिन्श्रील वचचिन्ध वचचिच्छुम ।

वचचिद्धास्य वचचिद्धद वचचित्काम वचचिद्धध ॥

धर्मो धमप्रवृत्ताना काम कामोपमविनाम ।

नानाभावोपसम्पन्न नानावस्थान्तरात्मकम ॥

लोकवृत्तानुकरण नाट्यमेत मया कृतम ।

उत्तमाधममध्याना नराणां कमसश्रयम ॥

जन्म हुआ, देवों ने पितामह से 'क्रीडनीयक' की इच्छा व्यक्त की थी। क्रीडनीयक का अर्थ है खेल, जिसमें आनन्द प्राप्त हो और हम श्रम, दुःख तथा वेदना को भुला दें। आज भी लोक-कथाओं में प्रेम-कथाओं के गीत असम्भ्य और निरक्षर कहीं जानेवाली जनता को आनन्द-विभोर किया करते हैं। दो हजार वर्ष पहले भी लोक-जीवन के इन प्रशिक्षितों और अर्धशिक्षितों के जीवन की यही प्रवृत्ति रही है। अरवन्ती-प्रदेश के गाँवों में उदयन और वासवदत्ता की प्रेम-कहानी सुनानेवाले बूढ़ों को कालिदास ने 'उदयनकथा-कोविद' कह कर गौरव प्रदान किया है— 'प्राप्यावन्तीनुदयनकथाकोविदग्रामवृद्धान्।' एक ओर इन कथाओं का गीत सुन कर लोग रस लेते थे और दूसरी ओर ग्राम्य जीवन में इन्हीं कथाओं की नकल कर सामूहिक रूप से श्रम-शिथिल किसान आनन्द लूटा करते थे। भास के स्वप्नवासवदत्तम् में इसी का निखरा रूप सामने आया। इस प्रकार प्रेम की कथाएँ और उनका ग्रामीण अभिनय आज से ढाई हजार वर्ष पहले शास्त्रीय नाट्यकला की प्रतिष्ठा की प्रेरणा बने। संस्कृत-नाटको में विदूषक नाम का पात्र इसी लोक-अभिनय की देन है।

इस अभिनय की पहली लोकप्रिय सज्ञा नाट्य है। यह नाम इसके इसके नृत्त या नृत्य के कारण मिला। देव, ऋषि तथा राजाओं के चरित का कथा-गायन जब इसमें होने लगा, इसकी शास्त्रीय प्रतिष्ठा की गई, तब पहले तो इसका नाम नाटक हुआ।<sup>१</sup> पुनः समय के अन्तर से दूसरा नाम रूप या रूपक हुआ, क्योंकि यह आँखों से देखा जाता था।

### १. नाट्यशास्त्र २१।१२३, १२४

यो यः स्वभावो लोकस्य नानावस्थान्तरात्मकः ।

सागाभिनयसयुक्तो नाट्यमित्यभिधीयते ॥

देवतानामृषीणां च राज्ञां लोकस्य चैव हि ।

पूर्ववृत्तानुचरितं नाटकं नाम तद्भवेत् ॥

इसलिए 'रूप' या और धनीत व व्यक्तिवा का अंश के नाटक करने वाले पात्रों में आरोप होना या इसलिए इनको 'रूपक' सना भी दी गई ।<sup>१</sup> परन्तु उपर्युक्त तथा स्वाभाविक संज्ञा नाट्य या नाटक ही है ।

रूपको व माय उपरूपको का एक वग भी बना रहा । सब बात यह है कि उपरूपक और रूपक दाना अपने पूर्ववर्ती ग्रामीण लोक अभिनयों व ही परिष्कृत रूप हैं । उपरूपक उन ग्रामीण अभिनयों के अधिक निकट है और रूपक अधिक परिष्कृत होने से उनसे दूर हो गये हैं । सभी उपरूपक उस समय लोक में प्रचलित विविध अभिनयों के प्रवृत्त स्वरूप हैं । उन्हें थोड़ा परिष्कृत करके साम्प्रदायिक संज्ञा दे दी गयी, फिर उन्हीं में से कुछ को अधिक पल्लवित और सस्कृत करके रूपक बना दिया गया । कुछ अभिनय इतने लोकप्रिय रहे कि उनका पल्लवित करके रूपक बना दिये जाने पर भी उनका एक रूप अपने छोटे रूप में उपरूपको में भी बना रहा, जैसे—नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन और हिंस रूपको के सधुरूप नाटिका, प्रकरणिका, भाणिका, काव्य और सलापक नाम से उपरूपको में भी विद्यमान है ।

उपरूपक, जसा कि ऊपर कहा गया है अपनी मूल प्रवृत्ति—ग्रामीण अभिनयों का पूरा उत्तराधिकार लिये हुए हैं उसके अठारह भेदों—(१) नाटिका (२) शोडक (३) गाथी (४) सट्टक (५) नाट्य रासक (६) प्रस्थानक (७) उल्लास्य (८) काव्य (९) रासक (१०) श्रवण (११) सलापक (१२) योगदित (१३) शिल्पक (१४) विलासिका (१५) वृमहसिका (१६) प्रकरणिका (१७) हल्लीश और (१८) भाणिका—में केवल सलापक में शृंगार और कथण रस का निषेध किया गया है, नहीं तो प्रत्येक उपरूपक तक्षण तक्षणी के प्रेम की विविध

### १ दशरूपक १७

अवस्थानुवृत्तिर्नाट्य रूप दृश्यतयोच्यते ।

रूपक तत्तमारोपाद् दशधैव रसाश्रयम् ॥

परिस्थितियों और उनके मनोभावों की अनेधना अभिव्यक्ति करते हैं, उनमें सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक पक्षों की प्रायः उपेक्षा मिलती है या प्रेम-कथा के अंग रूप में ही इन पक्षों का यत्किंचित निदर्शन संभव होता है, विशेषतः सामाजिक पक्ष का ।

रूपको में भी लोक के उन ग्रामीण अभिनयों का दायभाग कम नहीं है, वे भी अपने स्वरूप से यही परिचय देते हैं कि हमारी मूल उद्भव-भूमि प्रेमकथाओं का ग्रामीण अभिनय ही है । रूपक के दस भेद हैं— (१) नाटक (२) प्रकरण (३) भाण (४) प्रहसन (५) डिम (६) व्यायोग (७) समवकार (८) वीथी (९) अक और (१०) ईहामृग; इन भेदों में केवल डिम और व्यायोग ही ऐसे हैं जिनमें हास्य एवं शृंगार रस की योजना का निर्णय किया गया है, नहीं तो प्रत्येक रूपक में कथा, भाव और अनुभाव से, अभिनय में शृंगार रस की योजना हो जाती है ।

नाट्य के मूलभूत लक्ष्य में आगे की शताब्दियों में क्रमशः परिवर्तन आता गया, जब नाट्यकला लोक-भूमि से राजसभा में पहुँची और राज्याश्रित हो गई । वर्म की सभा में पहुँची और धर्म के प्रचार का साधन बनी, अवतार-लीलाओं के बँधे-बँधाए चरित में सिमट गयी । उसका स्वाभाविक विकास रुक गया जो भास, कालिदास, शूद्रक, विशाखदत्त तक की कृतियों में हुआ था । नाट्यकला के स्वाभाविक निवन्धन से अधिक उसमें नायक-नायिका की उपस्थापना एवं उनके भेदों के प्रति कवि को अधिक सजग होना पड़ा । इन पिछली कृतियों में अधिकांशतः शृंगार का जो चित्रण हुआ है वह भी स्वाभाविक नहीं बन पड़ा है अथवा उसकी अभिव्यक्ति अस्थान में हुई है । भट्टनारायण के बेणीसहार में दुर्योधन और रानी भानुमती का प्रेम-व्यवसाय ऐसा ही प्रसंग है । शृंगार रस के चित्रण के लिए कुछ रूढ़ियों का नियमित पालन होने लगा । नाट्यकला का धार्मिकक्षेत्र (पौराणिक

कथाया) में बहुत मादर बढ़ा और बहुत एकांगी सी हो गई । राम और कृष्ण के कथा-प्रयोगों को ले कर अनन्त रूप से चिन्ते जाते रहे ।

निन्तु नाट्यकला का अपना मूलभूत लक्ष्य से यह प्रतिवृत्ति उसकी शास्त्रीय प्रतिष्ठा के साथ ही प्रारम्भ हो चुका था और उसे लोच-वधाया से राजगाथाओं की ओर मोड़ा जा चुका था । शास्त्रीय प्रतिष्ठा के बाद ही राजतन्त्र का राजमार्ग था जाता है । नाट्यशास्त्र के उत्पत्ति के अनुसार दशरथ ने नाट्यकला का जो पहला प्रयोग ध्वजा-त्सव के अवसर पर किया, उसकी कथावस्तु महेन्द्रविजय थी । दशरथ ने नाट्यकला का लोकवृत्ति के विपरीत अपनी वीर पूजा का माध्यम बनाया । उस प्रथम शास्त्रीय नाट्यप्रयोग में लक्ष्मी की विजय के साथ जब दानवों की पराजय एवं उनका विनाश लिखा जाने लगा तब दशरथ ने बड़े दानव नाराज हो उठे और उन्होंने समारोह में विघ्न करके गुरुवर दिया, अपना साधिका के साथ वे यह कह कर निवृत्त पड़ कि धर्मो चलें हम इस प्रकार यह नाट्यप्रयोग नहीं चाहते ।<sup>१</sup> इस प्रकार देवों ने अपने प्रथम नाट्यप्रयोग में ही उसकी सावधानी कता नष्ट कर दी थी और नाट्यकला का लाघव किया था ।

१ नाट्यशास्त्र अध्याय १ । ५५—६६

अथ ध्वजमह श्रीमान् महे स्य प्रवर्तते ।

अत्रोदानीमय वदो नाट्यस्य प्रमुग्धताम् ॥

ततस्तस्मिन् ध्वजमहे निहतासुरदानवे ।

प्रहृष्टामरसङ्गीर्णं महेन्द्रविजयोत्सवे ॥

एव प्रयोग प्रारब्धे दानवदानवनाशने ॥

अभवन् क्षुभिता सर्वे दत्त्वा ये तत्र सगताः ।

विहृपाक्षपुरोगाम्नु विघ्नान् प्रोत्थाय तेऽद्रुवन् ॥

ने चमिष्यामः नाट्यमेतदागम्यतामिति ॥

इतना होने पर भी संस्कृत का नाट्य-वाङ्मय मानववृत्तियों, मनो-भावों और सुडौन-सजीव कथावस्तु की प्राकृतिक सृष्टि है। उसके निदर्शन के लिए बहुत विस्तार चाहिए। उसकी इस प्राकृतिक सृष्टि में भारतीय कवि का बहुत बड़ा योगदान रहा है। सच बात यह है कि कवि का भावलोक यदि नाट्यकला को न मिला होना तो राजसभा की राजधर्मी नाट्य-परम्परा में नाट्यकला निर्धन हो जाती, उसमें आडम्बर और कृत्रिमता के अतिरिक्त और कुछ न रह जाता। हम यह भी कह सकते हैं कि कवि ने नाट्यकला को काव्यकला का रूप दे दिया और उसे उसकी मूलभूमि से दूर हटा दिया, कवि के हाथों से सँवरने के साथ ही उसमें नृत्त और गान की उपेक्षा होती गई, कथा, व्यापार और संवाद ही उसके मुख्य विधेय रह गये। परन्तु यह तो स्वीकार ही करना पड़ेगा कि कवि के कारण ही नाट्य की प्रतिष्ठा काव्य के समानान्तर अत्यन्त ऊँचे उठी।

कवि ने रूपक की कथावस्तु को बहुत सँवारा और वैज्ञानिक रूप दिया जिसके कारण रूढ़ अत्यन्त प्रभावकारी और रोचक बन जाता है। कथावस्तु के विन्यास का विश्लेषण विस्तार से होता है, वह नाट्यकला के शास्त्रीय विवेचन का रस-भाव के पश्चात् दूसरा मुख्य पक्ष है। उसका अन्तः से अधिक वैज्ञानिक पक्ष कार्य की पाँच अवस्थाएँ हैं, कार्य अर्थात् रूपक का लक्ष्य या फल, जिसकी परिणति में ही रूपक चमत्कृत होता है; इन पाँच अवस्थाओं का पूरी कथावस्तु में सम्यक् विन्यास कवि की भाव-विज्ञता, रंगमंच की अभिनय-दृष्टि और कथा के अपेक्षित-अनपेक्षित तत्त्व के विवेक की खरी कसौटी है। नाटक में कार्य (फन) की सिद्धि के लिए प्रवहमान कथा की गतिशीलता को अवस्था कहते हैं। यह अवस्था पाँच भागों में बँटी होती है—(१) आरंभ—जहाँ फनप्राप्ति के लिए पहली उत्प्रेरणा दिखाई पड़े। (२) प्रयत्न—जहाँ कार्य का मिद्ध होता न देख कर उसके लिए शीघ्रता से उद्योग किया जाय (३) प्राप्तिप्राप्ति—उपाय

और विप्रदाना की स्थिति की अवस्था जब दोना की सावाशनी मकर प्राप्ति का निश्चय न किया जा सके । (४) नियताप्ति—जहाँ कनप्रति का पूरा निश्चय हो जाय । (५) कलागम—पूरा रूप से उद्देश्य का प्राप्ति । अवस्था व साय पाँच अर्थ प्रकृतियों (कथावस्तु के विभाग) और पाँच सधियों (मध्य प्रकृति और काय की सधि) का भी विवेचन किया जाता है किन्तु उनमें वह वञ्चावृत्ति नहीं है जो काय अवस्थामा के विन्यास में है ।

संस्कृत रूपको म कथावस्तु के गठन का एक अंग पत्र है—अर्थोपक्षेपक । अर्थोपक्षेपक का अर्थ है—कथा के गठन में न आये हुए सम्बद्ध अर्थों को अंग प्रसंग से प्रस्तुत किया जाना । ऐसा इसलिए भी अपेक्षित हो जाता है कि सस्कृत रूपको के प्रत्येक अंक में एक ही दृश्य होता है अर्थात् स्थान, समय और घटना की अविधि (एकता) रखी जाती है । अर्थोपक्षेपको की संख्या पाँच है—(१) विष्कम्भक—मध्यम पात्रों द्वारा बीती हुई अथवा आगे होने वाली कथा की सूचना । (२) प्रवेशक—नीच पात्रों द्वारा बीती हुई अथवा आगे आनेवाली कथा की सूचना । (३) चूलिका—नपक्ष्य से किसी रहस्य का सूचित किया जाना । (४) अकाश्य-अंक के अंत में पात्रों द्वारा आगे के अंक की आरम्भिक घटना की सूचना । (५) अकावतार—एक अंक की उस कथा का अंश जो कथा दूसरे अंक में चलती रहती है । इन अर्थोपक्षेपको में विष्कम्भक और प्रवेशक का प्रयोग प्रायः हुआ है । शेष का बहुत कम । अर्थोपक्षेपक नाटक की स्वाभाविक कथा धारा में एक विशाल अथवा नया कौतूहल बन कर आते हैं अतः इनको कथावस्तु के गठन की दृष्टि में बहुत स्वाभाविक या महत्वपूर्ण नहीं कहा जा सकता । तो भी नाटक और अभिनय के इतिहास के अनुशीलन में इनकी भी सत्ता है । हमारी नाट्यकला और उसका अभिनय जितने प्राचीन हैं सम्भवतः वे अर्थोपक्षेपक अपने मूल रूप में उनसे भी पुराने लोक अभिनय के अनन्त पन्थ हैं ।

रूपक में कथावस्तु के विभाग का नाम अक्र है। यह विभाग कथा की घटना का एक काल और एक स्थान की दृष्टि से अलग-अलग संयोजन है। एक अक्र में एक दृश्य होता है।

भारतीय नाट्यकला की सब से अधिक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि—मनोभावो, अनुभावो और उनके मूक्षम व्यापारो का अक्रन है। रूपक-रचना में यह कवि की देन है और अभिनय में इनका प्रस्तुतीकरण अभिनेता की सब से बड़ी सफलता है। इस उपलब्धि की अभिव्यक्ति भाव, अनुभाव के विविधपक्षों में विन्यस्त होती है, जिनका प्रतिनिधित्व भरत के अनुसार आठ रसों में है—(१) शृंगार (२) हास्य (३) करुण (४) रौद्र (५) भयानक (६) वीभत्स (७) वीर और (८) अद्भुत।

नाट्य की वृत्तियाँ अथवा रचना-शैली भी नाट्य-विवेचन का एक पक्ष है। भारतीय नाट्य के विश्लेषण पर ये अच्छा प्रकाश डालती हैं। इनके चार प्रकारों का निरूपण हुआ है—

१. भारतीयवृत्ति—जिसमें वाचिक अभिनय की अधिकता हो। दृश्यो, व्यापारो के अनुपात में संवाद ही अधिक हो, संवादों में रूपक चमत्कृत हो उठा हो।

२. कौशिकी वृत्ति—वाचिक अभिनय के साथ-साथ गीत, नृत्य, विलास की घटना को कौशिकी वृत्ति कहते हैं।

३. सात्वती वृत्ति—उन रूपकों में होती है जिनका नायक सत्त्व-शौर्य, दया और आर्जव गुणों से युक्त हो।

४. आरभटी वृत्ति—वहाँ होती है जहाँ रूपक का व्यापार माया, इन्द्रजाल, सग्राम, क्रोध, उद्भ्रान्ति से भरा हो।

सभी रूपकों को वृत्तियों के इन चार प्रकारों में ही सीमित नहीं किया जा सकता तो भी वृत्तियों के ये चार प्रतिनिधि विभाग हैं। के



वृत्तियाँ भी अपने मूल रूप में नाट्यकला की शास्त्रीय प्रतिष्ठा से पुरातन हैं। मूलतः ये भिन्न भिन्न प्रदेशों की नाट्यकला और अभिनय का अपना अपना प्रस्तुतीकरण हैं। ये वैसे ही प्रदेश विशेष की किसी युग में अपनी अपनी नाट्यविधा थी जहाँ सभ्यता के कवि सादा श्रमों के अपने अपने विशिष्ट प्रयोग—गुणों की भिन्नता के कारण बृद्ध और गौड़ दो मार्गों में विभक्त थे।<sup>१</sup> शास्त्रीय विवेचन के साथ इन वस्तुओं को नाट्य शास्त्र के समन्वित लक्षण में प्राप्त कर लिया गया। इन वस्तुओं से युक्त रूपों और उपरूपों के भेद भी प्रदेश विशेष की नाट्य प्रवृत्ति का परिचय देते हैं। कुछ भेद तो विशिष्ट नाट्यवस्तुओं के ही ग्रन्थ हैं जैसे 'नाटक' और 'भाण' भारतीयता में, 'नाटिका' कौशिकी वृत्ति में और 'डिम' गार्भटी वृत्ति में विद्यमान होने हैं।

नाट्यकला को जीवन रखनेवाला, उसका महत्वपूर्ण अंग है रंगशाला, जहाँ रूपों के अभिनेता और दशक इकट्ठा हो सकें और उसका अभिनय किया जाये। रंगशाला का रूप सदा युग के अनुसार बदलता रहा है। लेकिन इसका जीवन तभी तक है जब तक रूपों का अभिनय हो और रूप-रचना में भी जीवनी शक्ति तभी तक रहती है जब तक उनके अभिनय के लिए रंगशालाएँ हों। रंगशाला के सजीवन और संरक्षण के लिए समृद्ध समाज की भी अपेक्षा होती है। रंगशालाएँ तभी उन्नत होती हैं जब राष्ट्र में शान्ति-सुखवस्था हो। रंगशालाओं का पहला आरम्भ जब वे ग्रामीण लोक अभिनय के लिए कल्पित हुई होगी अभिनीत होनेवाली नाट्यकलाओं के अनुरूप छोटा-बड़ा, खुला हुआ या घिरा हुआ रहता रहा होगा, बिना दशक उसे देखेंगे इस दृष्टि से भी उसका कम अधिक विस्तार होता होगा। सभ्यता की रंगशालाओं में

१ वायव्य १।४२

इति वत्समागस्य प्राणा दशगुणा स्मृता ।

एषा विषयः प्रायो हृदयत गौडवत्तमि ॥

होनेवाला वस्तु-अभिनय प्रायः व्यापार की ही नकल होता था। रथ, घोड़े आदि का दृश्य भी चढ़ने-उतरने के साकेतिक नाट्य से प्रस्तुत किया जाता था।

भरत ने तीन प्रकार की रगशालाओं का (प्रेक्षागृहों) का परिचय दिया है—(१) विकृष्ट (आयताकार) रगशाला, (२) चतुरस्र (चौकोर) रगशाला, (३) त्र्यस्र (त्रिकोना) रगशाला। इनकी माप के भी निर्देश किये गये हैं। रगशालाओं के मुख्य दो भाग होते थे— (१) रगभूमि (जहाँ नाटक का अभिनय होता था) और (२) दर्शको के बैठने का स्थान। रगभूमि से ही लगा पार्श्व में नेपथ्य होता था जहाँ अभिनेता अपनी साज-सज्जा करते थे। पहले प्रकार की रगशाला देवों के लिए थी, दूसरी मनुष्यों के उपयुक्त थी। त्रिकोना रगशाला छोटी रगशाला थी जो कदाचित् लोक-अभिनयों में जहाँ-तहाँ प्रयुक्त होती रही होगी। नाट्यशास्त्र में रगशाला को धार्मिक महत्त्व दिया गया है। उसके निर्माण और रक्षा के लिए पूजा के विधान हैं। उसके इस धार्मिक महत्त्व ने ही रूपको के आरम्भ में नान्दी, प्रस्तावना तथा अन्त में भरत-वाक्य का विधान भी कवियों द्वारा करवाया। नान्दी का अर्थ मंगल पाठ है, जिससे अभिनय निर्विघ्न हो। प्रस्तावना में नाटक के आरम्भ और उसके कर्ता कवि का उल्लेख होता है, जो रगशाला का मुख्य अधिष्ठाता सूत्रधार करता था, रगशालाओं के सरक्षण-संवर्धन के महत्त्व के साथ प्रस्तावना में उस राजा का भी नामोल्लेख होने लगा जिसके सरक्षण में अभिनय का आयोजन होता था। यज्ञ के अन्त में जैसे आशीर्वाद दिया जाना है वैसे ही भरत-वाक्य दर्शकों एवं सभी सामाजिकों के लिए शुभकामना जैसा विधान है।

आज के वैज्ञानिक युग में रगशालाओं के लिए पुराने युग का रङ्गशालाओं की अपेक्षा अधिक साधन तथा सुविधा प्राप्त है, फिर भी अभी हमारे देश में पुराने युग की जैसी समृद्ध और अभिनय-सिद्ध

रगशालाएँ नहीं स्थापित हो सकी हैं। युग के अनुसार रूपकों के स्वरूप और कथाओं के दृष्टिकोण में भी बहुत अन्तर हो गया है। पश्चिमी नाट्यकला और रगशालाओं ने देश की नाट्यकला को प्रभावित किया है। भारत की नाट्यशास्त्रीय परम्परा से हम बहुत कुछ विछिन्न हो चुके हैं और वह परम्परा अब हमारे अनुशीलन का विषय बनती जा रही है। विज्ञान ने रेडियो-रूपक जसा नाट्य-विधा को भी जन्म दे दिया है, जो भाषा से नहीं, केवल ध्वनि के माध्यम से हमारी अनुभूति का विषय है। जिसके लिए रगमच का अनोखा नहीं है। दूसरे अर्थ में जो भारतीयता की विशुद्ध अवतारणा है।

विज्ञान से समृद्ध आज के युग की तुलना में भी संस्कृत नाट्यशास्त्र की प्राचीन उपलब्धियाँ और नाट्य वाङ्मय अब भी बहुत अनोखा है। अनेक अंगों में उसकी तुलना नहीं की जा सकती है। संस्कृत के रूपक सुखान्त होते हैं, यूनानी नाट्यकला के दुरात नाटकों से जो पश्चिमीय नाट्य साहित्य का मूल है, उनकी परम्परा सदा भिन्न है। विद्वानों का यह मत अवश्य है कि भारतीय रगमच का यूनानी रगमच से कभी सम्पर्क अवश्य हुआ था मन्मथ मिश्र के आश्रमण के बाद महा के रूपको में 'यवनिका' शब्द का प्रयोग उसी सम्पर्क का प्रभाव है। यवन से यवनिका का व्युत्पत्ति बनती है।

भारतीय नाट्यशास्त्र की सबसे बड़ी देन उसका रस सिद्धांत है। भरत मुनि ने रस और भावा का निरूपण केवल नाट्य विधा के लिए किया था लेकिन यह सिद्धांत इतना व्यापक निरुक्ति कि बाद में उसने सम्पूर्ण काव्यशास्त्रीय विवेचन को भी आत्मसात् कर लिया, काव्य के अलंकार रीति, गुण, ध्वनि सभी सिद्धांतों के ऊपर रस की अभिव्यक्ति ही काव्य की सारी कसौटी स्वीकार की गयी, शेष सभी सिद्धान्त इसकी अभिव्यक्ति में ही समाप्त माने गये। रस सिद्धांत साहित्य का सावभौम सार ही बन गया। आज भी जो लोग साहित्य में मनोविश्लेषणात्मक

अभिव्यक्तियों को प्राथमिकता देते हैं, वह भी रस-सिद्धान्त (मनोभावों) से बाहर कहाँ हैं। भरत ने विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों को रस की निष्पत्ति का कारण कहा है। कोई भी साहित्य मनोभावों की झर्री अभिव्यक्ति के बिना लोक-मन की प्रकृति को नहीं छू सकता, और मनोभाव का अर्थ है रस की भूमि। भारतीय नाट्य-शास्त्र की इस महती उपलब्धि को विश्व का कोई भी साहित्य अस्वीकार नहीं कर सकता। उसके लिए पूर्व और पश्चिम का भेद नहीं है, “पाश्चात्य कवियों में मिल्टन और कीट्स, शेक्सपीयर या गेटे (गोइटे) और शैले का सम्यक् मूल्यांकन करने के लिए रस सिद्धान्त से अधिक प्रामाणिक निकष नहीं हो सकता।”<sup>१</sup> यह बात अवश्य है कि रसों का जो भारतीय विवेचन उपलब्ध है, उससे उनके रूप तथा सीमा का और भी विस्तार होगा।

## हिन्दी में नाट्य-साहित्य

हिन्दी साहित्य के इतिहास में एक गलत मूल्यांकन परम्पराबद्ध हो गया है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पूर्व हिन्दी में नाटक नहीं थे। इतिहासकार किसी प्रकार रीवाँ नरेश विश्वनाथ सिंह (संवत् १७७८-१७९७ वि०) के आनन्द रघुनन्दन नाटक को हिन्दी की प्रथम नाट्यकृति के रूप में स्वीकार कर लेते हैं। भारतेन्दु जी अपने पिता गिरधरदास के नहुष नाटक (संवत् १९१६ वि०) को भी जो अधूरा ही था, हिन्दी का पहला नाटक मानते थे। ऐसा इसलिए कहा जाता है कि भारतेन्दु के पूर्व जो नाटक पाये जाते हैं, उनमें आनन्द रघुनन्दन को छोड़ कर प्रायः सभी पद्यमय हैं और उन नाटकों में संस्कृत की नाट्य-शास्त्रीय परम्परा के अनुसार न तो रंगमंच के निर्देश हैं तथा न उनमें शास्त्रीय निर्देश से युक्त कथावस्तु के गठन और कार्य व्यापार की ओर ध्यान दिया गया है, प्रायः मौलिक नाटक कम लिखे गये हैं। संस्कृत के

नाटका का ही पद्यात्मक अनुवाद प्रस्तुत हुआ है जैसे मह मिह का प्रबोध का श्लोक (गंग १६४८) हनुमत्नाटक (सं० १६८०) राधा जगन्नाथ मिह का प्रबोध का श्लोक (१८३१ पूर्वाय छती वि०) शिवान का गङ्गातला नाटक (ग० १७३७) सोमनाथ का माधव विनोद (ग० १८०६) श्रीवत्सावली का प्रबोध का श्लोक (ग० १८१७) आनन्द रघुनन्दन मोक्षिना नाटक का । इसमें ही पहला बार ब्रजभाषा का प्रयोग कर गान्धाप परम्परा के अनुसार रगमन और काम कापार का निमित्त लिये गये हैं । यह तथ्य बहुत कुछ अपने आप में टीका है परन्तु यह कहना सत्य न होगा कि भारत दु या राधा विनोद मिह में पद्य ही में मोक्षिना नाटक की चिन गय । चर जो नयी राजें हुई हैं उनमें हिन्दी के भारत दु तक मोक्षिना नाटक भी सामने आए हैं । यह बात अवश्य है कि व गान्धाप नाट्य-परम्परा में नहीं है । भारत न जिये लोकधर्मी नाट्य परम्परा<sup>१</sup> कहा जा, इन नाटका का वही परम्परा है । डा० सामनाथ गुप्त ने अपने नाटका का स्वाग या सांग (सांगीत) नाटक कहा है ।<sup>२</sup> इनमें उ लेखनाय है—गुरुद्वारा मिह का

<sup>१</sup> नाट्यशास्त्र १५।७१ ७२

स्वभावावगत शुद्ध त्वविद्वत तया ।

लोकवार्तात्रियोपेनमगलीलाविवर्जितम् ॥

स्वभावाभिनयापत नानास्थीपुरुषाश्रयम् ।

यदीदृश भवेत्तादय लोकधर्मी तु सा स्मृता ।

२१।१२३

यो य विभावो लावस्य नागावस्यान्तरात्मक ।

सागाभिनयस्युक्तो नाट्यमित्यभिधीयते ॥

स्वभावा लावधर्मी तु विभावो नाट्यमव हि ॥

<sup>२</sup> डा० माधवविनाय (सं० डा० सोमनाथ गुप्त) की भूमिका ।

चंडी चरित्र, रसरूप-का-हास्यार्णव नाटक (स०-१७४३), राजकवि केस का माधवानल नाटक (१८वी-पूर्वार्ध शती वि०) देवव्यास का देवमाया प्रपंच नाटक (१८वी उत्तरार्ध शती वि०), लच्छीराम कृष्णजीवन का करुणाभरण नाटक (१८वी शती वि०), लक्ष्मण शरण मधुकर का रामलीला विहार नाटक (१९वी पूर्वार्ध शती वि०) कँवरसेन-कृत गोवर्धनलीला, लछमनदास का प्रह्लाद, भव्नीलाल मिश्र का राजा परीक्षित (२०वी पूर्वार्ध शती वि०) ।

अतः यह कहा जाना चाहिए कि हिन्दी गद्य के मानक स्वरूप के न होने से और राजनीतिक उथल-पुथल के कारण समुचित रगमच के अभाव में हिन्दी में तब तक लोकधर्मी नाट्य-परम्परा के नाटक ही लिखे जाते रहे, जब तक अंग्रेजी राज्य की स्थापना के साथ राजनीतिक स्थिरता नहीं हुई और नाट्य के क्षेत्र में खड़ीबोली हिन्दी के मानक रूप की प्रतिष्ठा राजा लक्ष्मण सिंह और भारतेन्दु ने नहीं कर दी । हिन्दी के उक्त लोकधर्मी नाटकों में भक्ति और धार्मिक कथाओं की प्रधानता है, क्योंकि उस समय लोक मानस की वही धारा प्रवाहित थी । राजकवि केस का माधवानल नाटक, जो प्रेमकथा पर आधारित है, इस धारा के अपवाद रूप में ही है । इन लोकधर्मी नाटकों को इसलिए मौलिक नाट्य-साहित्य के गौरव से वंचित नहीं किया जा सकता कि इनमें परिमार्जित गद्य-का प्रयोग नहीं है, रगमच के निर्देश नहीं हैं, ये पद्य में ही लिखे गये हैं । युग और जनमानस की चेतना के अनुरूप इनको भी मौलिक तथा नाट्य-विधा की ही रचना स्वीकार किया जायगा । भरत ने नाट्यशास्त्र में लिखा है—‘जब लोक की शक्ति और सत्ता नष्ट हो जाती है तब शिल्प कर्म, शास्त्र, बुद्धिमानों की चतुरता, लोक सगठन—इन सब का भी विनाश हो जाता है । उस समय लोक भाषाओं की सामर्थ्य के अनुसार उनकी क्षमता को देखकर सहज और प्रिय शब्दों में आमोद-प्रमोद के लिए कवि को नाटक रचना करनी

चाहिए।<sup>१</sup> नाटक-रचना की बदलती हुई युग प्रवृत्ति का यह संकेत है, किन्तु नाटक रचना होती अवश्य रहेगी क्योंकि वह लोक का स्वभाव है और पूरे समाज के मन को तृप्त कर देनेवाला उत्सव है। हिन्दी के ऊपर उड़ते नाटका में भरत के उन सिद्धान्तों की नाटक रचना का प्रतिनिधित्व मिलता है, साथ ही उन नाटका में हिन्दी की मौलिक नाट्य-परम्परा के दर्शन होते हैं।

वास्तविक बात तो यह है कि अपभ्रंश भाषा से ही हिन्दी का विकास हुआ है और अपभ्रंश-भाषा की परम्पराओं से ही हिन्दी के प्रागुक्त काल के पूर्व के काव्य प्रभावित हैं। पृथ्वीराजरासो से लेकर रामचरितमानस तक खड़ी बोली के पूर्व जो महाकाव्य लिखे गये उनकी शैली, विधा अपभ्रंश भाषा में लिखे गये महाकाव्या पद्मचरित्र हरिवंशपुराण आदि की है न कि संस्कृत के रघुवंश, भट्टकाव्य, किराताजुनीय आदि की। और हिन्दी की साहित्यिक प्रतिष्ठा भी रामचरितमानस की रचना के साथ उजागर हुई। तब उसे अपभ्रंश काव्या की विधा पर हिन्दी के बड़े-बड़े प्रबन्ध काव्य लिखे गये वैसे ही लोक धर्मी नाट्य परम्पराओं और उनके सरल रंगमंचों के अनुगमन पर हिन्दी में नाट्य रचनाओं का भी क्रम चला। अगर हिन्दी की ये लोकधर्मी नाट्य रचनाएँ संस्कृत की शास्त्रीय नाट्य-परम्परा से भिन्न हैं और उनमें गद्य का प्रयोग तथा रंगमंच के निर्देश आदि नहीं हैं तो हिन्दी में इसे मौलिक नाट्य रचना का प्रभाव नहीं कहा जाना चाहिए। लोक धर्मी नाटक आज के बहुत कुछ गीतिनाट्य जैसे

१ नाट्यशास्त्र २१। १३०-१३१

कमशिल्पानि शास्त्राणि विचक्षणबलानि च ।

सूर्याण्येतानि नश्यन्ति यदा लोक प्रणश्यन्ति ॥

तदेव लोकभाषाणां प्रसमीक्ष्य बन्ध्यावलम्ब ।

मृदु शब्द सुखाय च कवि कुर्मात् नाटकम् ॥

होते थे, जिनका अभिनय गा-गाकर किया जाता था। इधर 'नौटंकी' नाम से प्रसिद्ध लोक-अभिनय उसी परम्परा का विकृत रूप है। हिन्दी में इन लोकधर्मी नाट्य रचनाओं का क्रम रामचरितमानस की रचना के बाद ही हिन्दी की प्रौढ साहित्यिक प्रतिष्ठा के साथ आरम्भ हो जाता है। हिन्दी के नाट्य-साहित्य के इतिहास को पुनः नये दृष्टिकोण से देखने की अपेक्षा है।

भारतेन्दु के युग में ही जब ब्रजभाषा की कविता क्षेत्र से उपेक्षा होने लगी और खड़ीबोली कविता का आरम्भ हुआ तब बाबू अयोध्या प्रसाद खत्री ने १९४५ वि० में 'खड़ीबोली आन्दोलन' की एक पुस्तक छपाई जिसमें बड़े जोर-शोर से यह राय जाहिर की कि अब तक जो कविता हुई, वह तो ब्रजभाषा की थी, हिन्दी की नहीं। सूर, तुलसी, बिहारी आदि ने जिसमें कविता की है, वह तो भाखा है, हिन्दी नहीं।<sup>१</sup> बाबू अयोध्याप्रसाद खत्री के उक्त कथन के समान ही यह कहा जाना भी कि भारतेन्दु से पूर्व हिन्दी में मौलिक नाटको का अभाव था, जो नाटक मिलते हैं उनमें नाट्य विधा और शिल्प नहीं के बराबर है—भावुकता है और इतिहास-दृष्टि की उपेक्षा है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का यह कहना अपने स्थान पर अवश्य सत्य है कि 'विलक्षण बात यह है कि आधुनिक गद्य-साहित्य का प्रवर्तन नाटकों से हुआ।'<sup>२</sup> खड़ीबोली गद्य का पहला निखरा हुआ साहित्यिक रूप राजा लक्ष्मण सिंह के शकुन्तला नाटक (१९२० वि०) में दिखायी पड़ता है। इसके बाद के दूसरे दशक में भारतेन्दु जी के नाटको में ही उस खड़ीबोली गद्य को और भी साहित्यिक साज-सँवार

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास (ना० प्र० स०, संस्क० संवत् १९६६) पृ० ६६७, ४५५।

२. वही पृ० ४६६



मिना है। भारतेन्दु जी का पहला नाटक बिछागुंजर जो बंगला भाषा में अनुवाद किया गया था, १९२५ ई० में प्रकाशित हुआ।

हिंदी साहित्य की भारतेन्दु की महारंगमण्डल उनही नाट्य-रचनाएँ हैं। उन्होंने बंगला तथा संस्कृत भाषा में नाटक व अनुवाद हिन्दी में किये तथा स्वयं मौलिक नाटकों की रचना की। उनका नाटक गिरधर और परतु विधात में संस्कृत की नाट्यधर्मी परम्परा व अनुगामी व उनमें नाट्य प्रभावों तथा भरत-शास्त्र का दृष्टांत नियत धन पाया जाता है। उन्होंने तथा उनके कई सहयोगियों ने अपने नाटकों में अनुसृत हिन्दी रंगमंच का स्थापना का सबसे प्रयास किया, इन लेखकों में स्वयं भी नाटकों व अभिनय में भाग लिया। नाट्य-क्षेत्र में ध्यान देने अभिनय के कारणों व कारण हिन्दी नाट्य साहित्य के भारतेन्दु युग की प्रतिष्ठा स्वीकार की जाती है। इस युग का प्रमुख नाटक बारा के नाम है— 'बालनारायण चौधरी प्रेमचन्द', प्रतापनारायण मिश्र, ५० रासवृण्ड भट्ट, अम्बिकादत्त व्यास, राधाचरण गोस्वामी लाला श्रीनिवास दाग, देवकीनन्दन खत्री। परन्तु भारतेन्दु के नाटकों का सा निष्कार इनकी कृतियों में नहीं है। अधिकांश कृतियाँ प्रायः प्रहसन कीटि की हैं। कीतुक और ध्वज से भरे ये नाटक उस युग के देशभक्ति से उदासीन और व्यसना में घासकत समाज के नग्न चित्र हैं, उनमें नाट्यकला का उद्देश्य गौण है और समाज सुधार का लक्ष्य ही अधिक प्रकट है। नाटकों का नाम ही उनके दृग् स्वरूप को व्यक्त कर देते हैं, जैसे—गोसकट नाटक, खुमारी खुमारी कलिकौतुक रूपक, झूठे मुहँ मुहासे, अचला विलाप दुलिनो बाला विधवा विवाह बाल-विवाह, विदूषक आदि। इस युग का एक प्रसिद्ध नाटककृति राधाकृष्ण-दास का 'महाराणा प्रताप' है, जिसका अभिनय हुआ और जो बहुत लोकप्रिय रहा। मौलिक नाटकों के अनिश्चित इस युग में अग्रज, संस्कृत और बंगला से अनेक नाटकों के अनुवाद हिन्दी में हुए।

संवत् १९७५ के आसपास, जब बाबू जयशंकर 'प्रसाद' ने हिन्दी में नाटकों की रचना आरम्भ की, हिन्दी के नाट्य-साहित्य ने एक नया मोड़ लिया। 'प्रसाद' जी के प्रमुख नाटक हैं—विशाल, अजातशत्रु, जनसेजय का नागयज्ञ, स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त, ध्रुवस्वामिनी। इन नाटकों में भारतीय संस्कृति और राष्ट्र प्रेम का अंकन हुआ, इनके कथानक भी भारतीय इतिहास के ऐसे ही प्रसंगों के हैं, परन्तु जहाँ तक भारतीय नाट्य-शिल्प अथवा संस्कृत नाट्य-शिल्प की बात है, जिसका अनुगमन भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने किया था, प्रसाद जी ने उसे त्याग दिया, उन्होंने हिन्दी नाटक को नये शिल्प में प्रस्तुत करने का प्रयास किया। यह नया शिल्प अंग्रेजी के मूर्धन्य नाटककार शेक्सपीयर के नाटकों का शिल्प था, जिसका अनुकरण बंगला में द्विजेन्द्रलाल राय कर चुके थे। इस नाट्य-शिल्प में नान्दी, प्रस्तावना तो छोड़ ही दिये गये, अंकों का विभाजन अनेक दृश्यों में किया जाने लगा। रंगमंच के नाटकीय व्यापारों में ऐसी विधियों का भी प्रयोग हुआ (जैसे छुरा मारना) जिसका निषेध भरत के नाट्य-शास्त्र में है। पहली बार हिन्दी में जब इस नाट्य शिल्प की अवतारणा हुई तो उसकी नवीनता का बड़ा अभिनन्दन हुआ। हरिकृष्ण प्रेमी, सेठ गोविन्ददास, उदयशङ्कर भट्ट कुछ प्रमुख नाटककार इस नाट्य-शैली में ही रचना करने में प्रवृत्त हुए।

प्रसाद जी की नाट्य रचनाओं के आरम्भ के डेढ़ दशक के अनन्तर ही हिन्दी नाटक ने पुनः एक नूतन मोड़ ग्रहण किया, हिन्दी नाट्य का यह चौथा युग था। इस नये मोड़ पर चलने वाले थे—लक्ष्मीनारायण मिश्र। 'राक्षस का मन्दिर' (१९८६ वि०) और 'सिन्दूर की होली' (१९६१ वि०) नाटकों के साथ वे हिन्दी में एक नया नाट्यशिल्प लेकर आये जो इतिहास के गड़े मुँह उखाड़ कर सांस्कृतिक गायन, नही, सामाजिक मशीन-का निर्माण था। उनका रंग-विधान सरल, भाषा-सहज और

सवाद छोटे होते थे। इस नाट्य गिला की बल्बना उहानि मुख्य रूप स यूरोप के नये युग के नाटककार इम्मान और बर्नार्डिना के नाटकों के समानाकार की। लेकिन इतना स्वीकार करना पड़ेगा कि मिश्र जी के नाटकों में विचार और वस्तु विधान की योजना भारतीय नाट्य शास्त्र की ही होती थी। अपने इसी गिन्य पर उन्होंने थोड़े ही समय के अन्तर से तीन और नाटक लिखे मूक्ति का रहस्य, राजयोग, आधीरात। मिश्र जी के नाटकों में तीन अक्ष होते थे और एक अक्ष में एक ही दृश्य होता था, जो प्रायः भारतीय नाट्यशिल्प के निकट था। कहना न होगा कि आज तीस वर्ष के बाद भी मिश्र जी के उस नाट्य गिन्य को थोड़े से हेर फेर के साथ अपनाया जा रहा है, यद्यपि मिश्र जी उससे हट चुके हैं। २००० वि० के बाद मिश्र जी ने अपना मार्ग बदल दिया। वे बालिशता के उत्तराधिकार और भरत के रस सिद्धान्त को अपने नाटका में मूल करने में प्रवृत्त हुए, ऐतिहासिक, पौराणिक विषयों को लेकर उहाने नये नाटक लिखे जिनमें मुख्य हैं—महाराज, नारद की बीणा गरुडध्वज, ब्रह्मरक्षमेघ, चक्रग्रह, अपराजित।

अब तो हिन्दी नाट्यशिल्प न कई नई विधाया में अपना प्रसार किया है, ये विधाएँ हैं—भावनाट्य, स्वीकृति रूपक, गीतिनाट्य रेडियो रूपक, एकाकी। रेडियो रूपक ने जहाँ नाटकों के प्रचार में सहयोग किया है, वही रंगमंच की उपेक्षा का कारण भी वह बनता है। इधर के नाटककारों में, मुख्य नाम हैं—रामवृक्ष बेनीपुरी, उपेन्द्रनाथ अश्व, विष्णु प्रभाकर, वृंदावनलाल वर्मा सीनाराम चतुर्वेदी, जगदीशचन्द्र माधुर।

एकाकी नाटक यद्यपि सस्त्रुत में भी हैं और भारतेन्दु युग में भी एक अक्ष के नाटक लिखे गये लेकिन इधर हिन्दी में एकाकी नाटकों का जो अभिनव शिल्प आया वह पश्चिमी साहित्य का है। आज एकाकियों

की लोकप्रियता नाटको से अधिक है। इस पाश्चात्य एकांकी-शिल्प की हिन्दी में पहली अवतारणा भुवनेश्वर की एकांकी-कृतियों और उनके कारवाँ के (१९६२ वि०) एकांकी-संग्रह से होती है। कारवाँ के एकांकी शिल्प और शैली की दृष्टि से अनोखे हैं। हिन्दी में एकांकी नाटको की रचना और उसके नये-नये शिल्प के प्रति बड़ी सजगता आई है। डा० रामकुमार वर्मा केवल एकांकी लिखनेवाले नाटककार है। अन्य प्रसिद्ध एकांकीकार हैं—सुदर्शन, हरिकृष्ण प्रेमी, उदयशङ्कर भट्ट, उपेन्द्रनाथ अशक, विष्णु प्रभाकर, लक्ष्मीनारायण मिश्र, रामवृक्ष वेनी पुरी, भगवतशरण उपाध्याय।

आज नाटक केवल मनोरंजन मात्र का साधन नहीं है, वह साहित्य की उत्कृष्ट विधा है। उसे ऐसा ही कुछ स्थान संस्कृत में भी प्राप्त था—काव्येषु नाटकं रम्यम्। इस समानता के होते हुए भी हिन्दी का नाटक वही नहीं है, जो संस्कृत का नाटक था। हिन्दी का नाटक केवल चाक्षुष यज्ञ और रति-प्रेम की अभिव्यक्ति न होकर समाज के नये-नये हितों का निकटतम प्रवर्तक है। लेकिन बिना सफल रंगमंच के नाटक की वही दशा होती है जो उद्योग के लिए आतुर साधनहीन मनुष्य की। हिन्दी के नये उत्साही एवं प्रतिभा-सम्पन्न नाटककार नूतन विधा की नाटक-रचना तथा तदनुरूप रंगमंच की स्थापना—दोनों के प्रति संवेष्ट हैं। इसके साथ ही यह भी सत्य है कि आज नाटक के नाम पर हिन्दी की अनेक कृतियों में उपन्यास और कोरे विचार, चिन्तन का निबन्धन हुआ है, प्रायः ऐतिहासिक नाटको में। आशा की जाती है कि भविष्य में हिन्दी अपने देश और युग का अपना मौलिक नाट्य-शिल्प प्रस्तुत करेगी।

### भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का जन्म संवत् १९०७ में वाराणसी में हुआ। आप इतिहास प्रसिद्ध सेठ अमीचन्द वंशज थे। पिता का नाम गोपालचन्द्र

## मौलिक—

- १ बदिकी हिंसा हिंसा न भवति (प्रहसन स० १६३०)
- २ प्रेम जोनिनी (नाटिका, मयूरा, स० १६३२)
- ३ श्रीचन्द्रावली (नाटिका स० १६३३)
- ४ विषस्य विषमोषधम (भाण, स० १६३३)
- ५ भारत दुदशा (नाट्यरासक स० १६३७)
- ६ नीलवेणी (गीतिरूपक, स० १६३८)
- ७ अंधेर नगरी (प्रहसन, स० १६३८)
- ८ सती प्रताप (नाटक स० १६४०)

मौलिक और प्रचलित नाट्य कृतियाँ जिनका केवल नामोल्लेख मिलता है—

- १ प्रवास नाटक    २ नवमलिका    ३ रत्नावली
- ४ मृच्छकटिक ।

इस सूची को देखने से पता चलता है कि भारतेन्दु जी की मौलिक नाट्यकृतियों में नाटक विधा की रचना केवल 'सतीप्रताप' है यह भी मयूरी रचना थी जिसे बाद में श्री राधाकृष्णदाम ने पूरा किया। उनकी शेष मौलिक नाट्यकृतियों की विधा प्रहसन, नाटिका भाण रासक और गीति हैं, इसमें मिथ होता है कि भारतेन्दु जी ने अपने पूरे जीवन की हिन्दी साहित्य-नाट्यपरम्परा को अतिक्रान्त नहीं किया। लोक-जीवन में जो भक्ति की धारा प्रवाहित हो चुकी थी तथा प्रहसन या भाण की कथा वस्तु, जो लोक का एक सामान्य रुचि है और सदा रहनी है, बहुत कुछ उन्ही रुचियों के अनुकूल भारतेन्दु जी ने भी अपने मौलिक नाटक लिखे। प्रहसन तथा भाण आदि के माध्यम से उन्होंने देश और समाज की वर्तमान दुदशा का भी प्ररणादायक चित्र खींचा। उनकी अपने मौलिक नाटकों में 'चन्द्रावली नाटिका' बहुत प्रिय थी,

जिसकी कथावस्तु और वर्णन उनके अपने युग की प्रकृति तही कही जा सकती। उसकी सहज स्थिति डेढ़ शताब्दी पूर्व—रीतिकालीन विरह-वर्णन काव्य और लच्छीराम कृष्णजीवन के करुणाभरण नाटक (कुरुक्षेत्र लीला) के साथ है। भारतेन्दु जी की नाट्य कृतियों की अपनी नवीनता परिष्कृत गद्य के प्रयोग, शास्त्रीय विधि से कथावस्तु के विन्यास और रंग-निर्देश में है।

## श्रीचन्द्रावली नाटिका

श्रीचन्द्रावली नाटिका की कथावस्तु पुष्टिमार्गीय कृष्ण भक्ति की मधुर उपासना का निदर्शन है। सम्पूर्ण नाटिका विप्रलम्भ शृंगार के विविध पक्षों और व्यापारों से ओत-प्रोत है जो अन्त में संयोग शृंगार में पर्यवसित हो जाते हैं। यह शृंगार लौकिक नहीं है, लोकोत्तर है। इसकी यह लोकोत्तर अभिव्यक्ति ही नाटिका का अस्तित्व है। इस लोकोत्तरता के कारण इसकी कथावस्तु बहुत सक्षिप्त है, कार्य-व्यापार का अभाव है और शृंगाररस के भावो-विभावों में उसका विस्तार हुआ है।

कथावस्तु के मुख्य अंश ये हैं—आरम्भ में नान्दी और प्रस्तावना संस्कृत नाट्य-पद्धति के अनुसार है। भारतेन्दु ने प्रस्तावना में अपने पिता के और अपने शील-स्वभाव के सम्बन्ध में विशिष्ट परिचय दिया है। प्रथम अंक के पूर्व विष्कम्भक में शुकदेव और नारद के संवाद द्वारा कृष्ण के प्रति गोपी चन्द्रावली के उत्कट प्रेम की चर्चा की गई है। पहिले अंक में चन्द्रावली और ललिता का संवाद है, जिसमें ललिता चन्द्रावली से कृष्ण के प्रति उसके गुप्त प्रेम को प्रकट मनुवा लेती है। कृष्ण के लोकमोहन रूप ने सबको कितना अधीर कर दिया है, इसकी सच्चा अभिव्यक्ति इसमें हुई है। दूसरा अंक चन्द्रावली की विरहावस्था के दृश्य प्रस्तुत करता है। इसका दृश्य संध्या और रात्रि का है,

होना या बहुत कम होना है । १

चन्द्रावली और कृष्ण के प्रेम का उल्लेख 'सूरसागर' के कुछ पदों में घटना-व्यापार के साथ है । वह गोपी राजा चन्द्रमानु की लड़की है और कृष्ण के लिए सर्वात्मा अनुरक्त है । पदों में घटनाओं का जो प्रम है<sup>२</sup> बहुत कुछ उससे अनुसार ही भारतेन्दु जी ने इस मूल कथा का सरस विस्तार अपनी नाटिका में किया है, साथ ही उसकी पुष्टि-भार्गीय घल्लम वण्णव-सिद्धान्त के अनुरूप चित्रित किया है । गुरुदेव और नारद को छाड़ कर सभी पात्र स्त्री ही हैं कृष्ण भी योगिनी नारी का वेप बना कर रगमच पर प्रवेश करते हैं । यही तीन पुरुष पात्र हैं । राधा कृष्ण की ज्येष्ठा नायिका देवी ( स्वामिनी ) हैं, जिनके भय से कृष्ण चन्द्रावली से मिलते नहीं । चौथे एक भविष्यत् कृष्ण के लिए राधा की आज्ञा ले कर आती है कि वे चन्द्रावली से प्रसन्नता-पूर्वक मिलें । प्रेम विलास की चर्चा, विरह-जीवन के अनुभाव, भूला तथा संगीत-गान की योजना ही पहले से चौथे प्रकृतक हुई है, इस प्रकार सम्पूर्ण नाटिका कौंगकी वृत्ति से आन-प्रोत है ।

नाटक की कथावस्तु का गठन काय व्यापार के स्वाभाविक निर्वाह में

१ दे० दशरूपक ३।४३-४८ साहित्यदण्ड ६।२६६-२७२

२ दे० सूरसागर ( ना० प्र० सभा कागी )

चन्द्रावली करति चतुराई सुना वचन मुख मू दि रही ।—पद सख्या ३१४७

चन्द्रावली स्याम मग जोवति । ३११६

चन्द्रावली हरप सौ बठी तहाँ सठचरी आई (हो) । ३१४६

चन्द्रावलि धाम श्याम भोर भएँ आए । ३११६

चमत्कृत होता है। कार्य-व्यापार की अवस्थाओं का प्रकृत विन्यास यदि सम्भव न हुआ तो नाटक की नाटकीयता नहीं रह जाती और तब उसमें अगर लेखक में कवि की सामर्थ्य है तो काव्यत्व की प्रतिष्ठा हो जाती है। लेखक चिन्तन और दर्शन की क्षमता रखता है तो तार्किक वार्तालाप की झड़ी लग जाती है। 'श्रीचन्द्रावली' में कार्य-अवस्थाओं का प्रकृत-विन्यास सम्भव नहीं हो सका है, कार्य-व्यापारों की न्यूनता है, भारतेन्दु जी ने दूसरे और तीसरे अंक में कार्य-व्यापार के अभाव में चन्द्रावली के विरह-सन्ताप का ही लम्बा काव्य-निबन्धन कर दिया है, जो गद्य और पद्य दोनों में है। उसमें रीतिकालीन वर्णनों की परम्परा का-सा ही निर्वाह है, अलौकिक के प्रति विरह-सन्ताप का आभास नहीं मिलता। इसके फलस्वरूप नाटिका आधे से अधिक काव्य ही हो गई है; हाँ, यह काव्य-अंश पर्याप्त मर्मस्पर्शी है। कथा के प्रकृत विन्यास में हुई त्रुटि को इस प्रकार समझ सकते हैं—प्रथम अंक के पूर्व का विष्कम्भक जिसमें शुकदेव और नारद का सवाद है, मूल कथा की दृष्टि से अत्यन्त अस्वाभाविक है। नाटिका में आगे चलकर फिर कहीं भी इनके दर्शन नहीं होते। पहले अंक में चन्द्रावली के प्रकृष्ट अनन्य प्रेम का निदर्शन हो जाने के बाद दूसरे और तीसरे अंकों में चन्द्रावली के विरह-सन्ताप का लम्बा वर्णन भी अस्वाभाविक है। कृष्ण को चन्द्रावली के अपनाने में जो कठिनाई हो रही थी, राधा का कृष्ण के ऊपर जो अकुश था इसके चित्रण के लिए भी कहीं स्थान मिलना आवश्यक था तब कथा का गठन चन्दकार-युक्त हो जाता। दूसरे और तीसरे अंक के बीच से यदि अकावतार की घटना निकाल दी जाये तो दोनों अंक मिलकर एक उत्कृष्ट रीतिकालीन चम्पू विरह-काव्य का रूप ले लेंगे। कथा में नाटकीयता के अभाव का अनुभव इसी से हो सकता है। कार्य-व्यापार की अवस्थाओं को विभाग



ये माध नाटिका में इस प्रकार देखा जा सकता है—पहले अंक में चन्द्रावली का कथन, जिसमें वह कृष्ण के प्रति अपने अनन्य प्रेम का जलना के सम्मुख प्रकट करती है, काय की आरम्भ अवस्था है—जिसकी श्रद्धा पर रीझते हैं उसे भूलते नहीं, और कसे भूलें, क्या वह भूलने के योग्य है, हाँ ! परबस भये फिरत हैं नना द्रव छन टरत न

टारे । हरिसमिमुख ऐगी छवि निरखन तन मन धन सब हारे ॥ दूसरे अंक का कथावतार, जिसमें माध्यावली चन्द्रावली की चिट्ठी कृष्ण के पास पहुँचाने का प्रयास करती है, काय की प्रयत्नावस्था है । तीसरे अंक की समाप्ति पर कामदेवजी, माधवी और विनामिना सतिया का चन्द्रावली को कृष्ण से मिलाने के लिए एक एक का क्रमगत लालजी, प्रिया जी और घर का जिम्मा लेना और चन्द्रावली को पूरा आश्वासन देना—‘तो सखी, बस अब यह सलाह पक्की भई । ले सखी अब उठि । चलि हिंडोरे भूलि ॥’ जिसमें चन्द्रावली और कृष्ण के मिलन की सम्भावना लक्षित होती है, सन्देश भी बना रहता है, काय की प्राप्तिप्राप्ता अवस्था है । चौथे अंक का अन्तभाग जहाँ कृष्ण अपने रूप में प्रकट होकर चन्द्रावली को गले लगा लेने है काय का फलागम है, उसके साथ ही काय की नियताप्ति अवस्था भी जुड़ी हुई है जो फलागम के बहुत निकट निबद्ध होने से गीण हो गई है जोगिन के रूप में कृष्ण का स्वगत कथन—अब तो मुझमें रहा नहीं जाना । इससे मिलने की अब तो सभी अंग व्याकुल हो रहे हैं । ‘होगा प्यारी, ऐसा ही होगा । प्यारी, मैं तो यही हूँ । काय की नियताप्ति अवस्था है ।

कथावस्तु में अलौकिक शृंगार रस के साथ हास्य और करुण रस की भी योजना दूसरे तीसरे अंक में हो सकी है । दूसरे अंक में चन्द्रावली, माध्या और वर्षा के साथ चन्द्रावली का वार्तालाप हास्य रस

की भूमिका बन गया है, जिसमें वह प्रेम में पागल हो कर कुछ का कुछ कहती है। तीसरे अंक में चन्द्रावली का विप्रलम्भ शृंगार कही-कही उसके हृदय की करुण अभिव्यक्ति हो कर प्रकट हुआ है, जहाँ वह अलौकिक प्रेम में व्यथित होकर रोने लगती है, अचेत हो जाती है। कथा में अलौकिक दृष्टि से सखीभाव की उस मधुर उपासना की सगति बैठाई गई है जिसमें साधक आत्मा अपने को कृष्ण से मिलाने के लिए राधा की कृपा चाहता है, अपने को भी राधा की सखी (स्त्री) ही मानता है, कृष्ण को परम प्रियतम रूप में मान कर साधना की मजिलें तै करता है। चन्द्रावली दूसरे अंक में कहती है—‘हाँ ! यह तुम्हारा जो अखण्ड परमानन्दमय प्रेम है और जो ज्ञान वैराग्यादिकों को तुच्छ करके परम शान्ति देनेवाला है उसका कोई स्वरूप ही नहीं जानता।’ नाटिका के आरम्भ में भूमिका के रूप में लिखे गये दो दोहे नाटिका के इसी उद्देश्य के साक्षी हैं—‘हरि उपासना, भक्ति, वैराग्य, रसिकता ज्ञान । सोध जग-जन मानि या चन्द्रावलिहि प्रमान । नाटिका के अन्त के ‘भरतवाक्य’ में भी यही दुहराया गया है—‘जन चल्लभी कहाइ भक्ति बिनु रहइ न कोई ।’ परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि नाटककार ने अपने को पूर्ण अलौकिक प्रेम में समाविष्ट कर नाटिका की रचना नहीं की है, क्योंकि वह सवादो में इस अलौकिकता के प्रतिकूल और अनुकूल दोनों प्रकार की बातें कहलाता है, देखिए, यहाँ कृष्ण मानव हैं क्योंकि चन्द्रावली भगवान से उनके प्रति प्रार्थी है—‘मैं जब आरसी में अपना मुँह देखती और अपना रंग पीला पाती थी तब भगवान से हाथ जोड़कर मनाती थी कि भगवान ! मैं उस निर्दयी को चाहूँ पर वह मुझे न चाहे हा !’ (पहिला अंक) दूसरे स्थान पर कृष्ण परम ब्रह्म के रूप में चन्द्रावली द्वारा पुकारे जाते हैं—‘प्यारे ! जल्दी इस ससार से छुड़ाओ । अब नहीं सही जाती ।...हाय !

मंझधार से बुझा कर ऊपर से उतराई माँगते हो । बलेशिखे ! और इतने बड़े कारखाने पर बेहमाई परले सिरे की । जंगल में मोर नाचा किसने देखा । नहीं नहीं, वह सब देखता है ।' (तीसरा अंक)

जहाँ तक रस, भाव व विवाह की बात है कथात्मक रस परिणय पूरी नाटिका में है । लेकिन नाटकीय काय व्यापार में रस की अभिव्यक्ति दूसरे अंक और तीसरे अंक में ही है । दूसरे अंक और तीसरे अंक में चन्द्रावली के अत्यन्त लम्बे सवाद जिसमें कुछ कथन ही बल कर बार बार आये हैं नाटकीय काय व्यापार और रसमय की प्रस्तुति को अस्वाभाविक बना देते हैं ।

नाटिका में तीन प्रकार की भाषा का प्रयोग हुआ है—परिनिष्ठित (मानक) हिन्दी—खड़ीबोली, काय की व्रजभाषा, व्रज की बोली । व्रज की बोली का प्रयोग चन्द्रावली की सखियों ने जहाँ-तहाँ किया है, चन्द्रावली के सवादों में भी बीच-बीच में इस बोली के प्रयोग हो गये हैं परन्तु संस्कृत नाटकों में प्राकृत आश्रय भाषाओं का जसा नियम विहित प्रयोग हुआ है, व्रज बोली का ऐसा नियमित प्रयोग इस नाटिका में नहीं है । मानक हिन्दी का प्रयोग, जो भारतेन्दु के लिए नई चाल में दली हिन्दी का प्रवाह पूरा है लेकिन यह उस प्रकार से निखार और टकसाल का भाषा नहीं बन पाई है, न इसमें उतना प्रसाद गुण प्राप्त है, इसके पन्द्रह वष पूर्व लिखित राजा लक्ष्मण सिंह के 'गुन्तला नाटक' की जसी टकसाली भाषा है और जितना उसमें प्रमाण गुण है । राजा जी ने तो फारसी शब्दों का प्रयोग भी नहीं किया है, भारतेन्दु जी की भाषा में नजरबंद, जहन्नुम, गजब, खुमारी, जरबी, सत्ताह, सुरी जैसे शब्दों का प्रयोग है । भारतेन्दु जी ने मुहावरों और कहावतों का भी प्रयोग किया है जिसमें सवादों में कथा के अनुरूप स्वाभाविकता आई है । राजा लक्ष्मण सिंह जी की भाषा जहाँ सरने ठेठ रूप में

भूमिका

सँवरती है, भारतेन्दु जी की भाषा वहाँ कुछ आगे बढ़ आई है और भाव तथा अर्थ-शक्ति के नये सचयन में अभी कुछ बोझिल-सी लगती है।

समग्र रूप में यह नाटिका परिनिष्ठित हिन्दी के उदय-काल की नाट्यकृति होने से सफल और प्रशंसनीय है। एव कृष्णभक्ति की नाट्य-परम्परा का तो इसमें अत्यन्त सफल निखार-निर्वाह हुआ है, यह मानना पड़ेगा।

प्रयाग  
चैत्र १५, २०२४

}

जय शङ्कर त्रिपाठी



# श्रीचन्द्रावली नाटिका

काव्य, सुरस, सिंगार के दोउ दल, कविता नेम ।  
जग-जन सो कईस सो कहियत जेहि पर प्रेम ॥  
हरि उपासना, भक्ति, वैराग, रसिकताज्ञान ।  
सोधै जग-जन मानि या चन्द्रावलिहि प्रमान ॥

सूत्र०—हम लोग के परम मित्र हरिचन्द न ।

पारि०—(मुह केर कर) किसी समय तुम्हारी बुद्धि म भी धम हो जाता है । भला वह नाटक बनाना क्या जाने? वह तो बबल धारम्भ-दूर है । और अनेक बड़े-बड़े कवि हैं, कोई उनका प्रबन्ध लेते ।

सूत्र०—(हँस कर) इसम तुम्हारा दोष नहीं तुम ता उससे निप नहा मिलते । जो लोग उसके सग म रहते हैं वे तो उसको जानने ही नहा, तुम बिचारे क्या हो ।

पारि०—(आश्चर्य से) हाँ, मैं ता जानता ही न था, भला कहो उनक दो चार गुण मैं भी सुन सकता हूँ ?

सूत्र०—क्या नहीं, पर जो श्रद्धा मे सुनो तो ।

पारि०—मैं प्रति रोम को कण बना कर महाराज पृष्ठु हो रहा हूँ, आश कहिए ।

सूत्र०—(आनन्द से) सुनो—

परम प्रेमनिधि रसिक कर, अति उदार गुण-खान ।

जग जन-रजन, आशु-कधि, को हरिचन्द ममान ॥

जिन श्रीगिरिधरदास कवि, रचे श्रव्य चालीस ।

ता मुन श्रीहरिचन्द को, को न नवाव सीस ॥

जय जिन तृन मम करि लग्यौ, अपने प्रेम प्रभाव ।

करि गुनाब सो आचमन, लीजत बाका नाँव ॥

चन्द टर सूरज टर, टर जगत के नम ।

यह हृद, श्रीहरिचन्द को, टर न अविचल प्रम ॥

पारि०—वाह-वाह ! मैं ऐसा नहीं जानता था, तब तो इस प्रयोग में देर करनी ही भूल है ।

(नेपथ्य में)

श्रवन-सुखद भव-भय-हरन, त्यागिन को अत्याग ।

नष्ट जीव विनु कौन हरि-गुन सो करै विराग ?

हमसौहू तजि जात नहि, परम पुन्य फल जौन ।

कृष्णकथा सौ मधुरतर, जग में भाखौ कौन ?

सूत्र०—(सुन कर आनन्द से) अहा ! वह देखो मेरा प्यारा छोटा भाई शुकदेव जी वन कर रगशाला में आता है और हम लोग बातों ही से नहीं सुलझे । तो अब मारिष ! चलो, हम लोग भी अपना-अपना वेष धारण करें ।

पारि०—क्षण भर और ठहरो, मुझे शुकदेवजी के इस वेष की शोभा देख लेने दो, तब चलूंगा ।

सूत्र०—सच कहा, अहा कैसा सुन्दर बना है, वाह मेरे भाई वाह ! क्यों न हो, आखिर तो मुझ रगरजक का भाई है !

अति कोमल सब अग रग साँवरो सलोना ।

घूंघरवाले बालन पै बलि वारी टोना ॥

भुज बिसाल, मुख चन्द भलमले, नैन लज्जौं ।

जुग कमान सी खिची गडत हिय में दोर भौं ।

छवि लखत नैन छिन नहि टरत, शोभा नहि कहि जात है ।

मनु प्रेमपुञ्ज ही रूप धरि, आवत आजु लखात है ॥

तो चलो, हम भी अपने-अपने म्वांग सज कर आवें ।

(दोनों जाते हैं)

इति प्रस्तावना ।



## अथ विष्कम्भक

(मानन्द मे भूमते हुए इगमगी चाल से शुकदेवजी आते हैं)

शुक०—(ध्यान सुख इत्यादि फिर से पढ़ कर) महा । ससार के जीवों की कैसी विलक्षण रुचि है, कोई नेम धर्म म चूर है, कोई पान के ध्यान में मस्त, कोई मत मतांतर के झगड़े में मतवाला हो रहा है, एक दूसरे को दोष देता है, अपने का अच्छा समझता है, कोई ससार ही को सर्वस्व मान कर परमाथ से बिड़ता है, कोई परमाथ ही को परम पुरपाथ मान कर घर-बार तृण-सो छोड़ देता है । अपने अपने रंग में सब रंगे हैं । जिसने जो सिद्धांत कर लिया है वही उसके जी में गड़ रहा है और उसी के खडन मडन में जन्म बिताता है, पर वह जो परम प्रेम भक्त भय एकांत भक्ति है, जिसके उदय होते ही अनेक प्रकार के आग्रह स्वरूप ज्ञान विज्ञान दिक् अधकार नाश हो जाते हैं और जिसके चित्त में आते ही ससार का निगड़ आप से आप खुल जाता है—वह किसी को नहीं मिली, मिले कहाँ से ? सब उसके अधिकारी भी नहीं हैं । और भी, जो लोग धार्मिक कहाते हैं, उनका चित्त, स्वमत स्थापन और पर मत निराकरण रूप वाद विवाद से, और जो बिचार विषयी हैं उनका अनेक प्रकार की इच्छारूपी तृष्णा से, भवसर तो पाता ही नहीं कि इधर झुके । (सोच कर) महा । इस मन्त्रि को निबजी ने पान किया है और कोई क्या पिएगा ? जिसका प्रभाव से अद्वैत में बठी पावेती भी उनको विकार नहीं कर सकती धय हैं, धय हैं, और दूसरा ऐसा कौन है ? (बिचार कर) नहीं-नहीं, ब्रज की गोपियो ने उह भी जीत लिया है । आहा ।

इनका कैसा विलक्षण प्रेम है कि अकथनीय और अकरणीय है; क्योंकि जहाँ माहात्म्य-ज्ञान होता है वहाँ प्रेम नहीं होता और जहाँ पूर्ण प्रीति होती है वहाँ माहात्म्य-ज्ञान नहीं होता । ये धन्य है कि इनमें दोनों बातें एक सग मिलती हैं, नहीं तो मेरा-सा निवृत्त मनुष्य भी रात-दिन इन्हीं लोगों का यश क्यों गाता ?

(नेपथ्य में वीणा बजती है)

(आकाश की ओर देखकर और वीणा का शब्द सुन कर)

आहा ! यह आकाश कैसा प्रकाशित हो रहा है और वीणा के कैसे मधुर स्वर कान में पड़ते हैं । ऐसा सम्भव होता है कि देवपि भगवान् नारद यहाँ आते हैं । आहा ! वीणा कैसे मीठे सुर से बोलती है (नेपथ्य की ओर देख कर) आहा ! वही तो हैं, धन्य है, कैसी सुन्दर शोभा है ।

पिंग जटा को भार सीस पे सुन्दर सोहत ।

गल तुलसी की माल बनी जोहत मन मोहत ॥

कटि मृगप्रति को चरम, चरन मैं घुंघरू धारत ।

नारायण गोविन्द कृष्ण यह नाम उचारत ॥

लै वीणा कर वादन करत, तान सात सुर सो भरत ।

जग-अव छिन मैं हरि कहि हरत, जेहि सुनि नर भव-जल तरत ॥

जुग तूँवन की वीन परम सोभित मनभाई ।

लय अरु सुर की मनहुँ युगल गठरी लटकाई ॥

आरोहन अवरोहन के कै द्वै फल सोहै !

कै कोमल अरु तीव्र सुर भरे जग-मन मोहै ॥

कै श्रीराधा अरु कृष्ण के, अगनित गुन-गन के प्रगट ।

यह अगम खजाने द्वै भरे, नित खरचत तो हैं अघट ॥

मनु तीरथ-मय कृष्ण-चरित की काँवरि लीने ।

कै भुगोल खगोल दोउ कर-अमलक कीने ?

जग बुधि सौजन हेत मनहुँ यह तुला बनाई ।  
भक्ति-मुक्ति की जुगल पिटारी कै सटकाई ?  
मनु गावन सो श्रीराग कै, बीना ह फलती भई ।  
क राग सिन्धु के तरन हित यह दोऊ तूबी लई ?

ब्रह्म जीव निरगुण सगुन, द्व ताडत विचार ।  
नित्य अनित्य विवाद के, द्व तूटा निरधार ॥  
जो इक तूबा ल बड़, सो बरागा हाथ ।  
क्यों नहिं ये सबसो बड़, ल तूबा कर दोय ॥  
तो अब इनसे मिलके आज मैं परमानन्द लाभ करूँगा ।

(नारदजी आते हैं)

शुक०—(आगे बढ़ कर और गते से मिला कर) आइए आइए कहिए  
कुशल तो है ? किस देग को पवित्र करते हुए आते हैं ?

नारद—आप से महापुरुष क दशन हो और फिर भी कुशल न हो यह  
बात तो संवधा असम्भव है, और आपसे तो कुशल पूछना ही  
व्यर्थ है ।

शुक०—यह तो हुआ, अब कहिए आप आते कहीं से हैं ?

नारद—इस समय तो श्रीकृदावन से आता हूँ ।

शुक०—अहा ! आप धन्य हैं जो उस पवित्र भूमि में आते हैं । (पर सू कर)  
धन्य है उस भूमि की रज, कहिए वहाँ क्या-क्या देखा ?

नारद—वहाँ परम प्रमानन्दमयी श्रीब्रजवस्तभी लोगो का दशन करके  
अपने को पवित्र किया और उनकी विरहावस्था देखता बरसो वही  
भूना पड़ा रहा । अहा, ये श्रीगोपीजन धन्य हैं । इनके गुणगण  
कोन कह सकता है—

गोपिन की सरि कोऊ नाही ।

जिन वृन-समकुल लाज निगड सब तोरफो हरिरस माही ॥

जिन निज बस कीने नँद-नन्दन विहरी दै गलवाँही ।

सब सन्तन के सीस रही इन चरन-छत्र की छाँही ॥

ब्रज की लता पता मोहि कीजै ।

गोपी-पद-पंकज-पावन की रज जाँमै सिर भीजै ॥

आवत जात कुंज की गलियन रूप-सुधा नित पीजै ।

श्रीराधे राधे मुख, यह वर मुंहमाँग्यौ हरि दीजै ॥

(प्रेम-अवस्था में आते हैं और नेत्रों से आँसू बहते हैं)

शुक०—(अपने आँसू पोंछ कर) अहा धन्य है आप, धन्य है, अभी जो मैं न सम्हालता तो बीणा आप के हाथ से छूटके गिर पड़ती । क्यों न हो, श्रीमहादेवजी की प्रीति के पात्र हो कर आप ऐसे प्रेमी हो इसमें आश्चर्य नहीं ।

नारद—(अपने को सम्हालकर) अहा ! ये क्षण कैसे आनन्द से बीते हैं, यह आप से महात्मा की संगत का फल है ।

शुक०—कहिए, उन सब गोपियों में प्रेम विशेष किसका है ?

नारद—विशेष किसका कहूँ और न्यून किसका कहूँ, एक से एक बढ कर है । श्रीमती की कोई बात ही नहीं, वह तो श्रीकृष्ण ही है, लीलार्थ दो हो रही है; तथापि सब गोपियों में श्रीचन्द्रावली जी के प्रेम की चर्चा आजकल ब्रज के डगर-डगर में फैली हुई है । अहा ! कैसा विलक्षण प्रेम है, यद्यपि माता-पिता, भाई-बन्धु सब निषेध करते हैं और उधर श्रीमती जी का भी भय है, तथापि श्रीकृष्ण से जल में दूध की भाँति मिल रही है । लोकलाज, गुरुजन कोई बाधा नहीं कर सकते । किसी न किसी उपाय से श्रीकृष्ण से मिल ही रहती है ।

शुक०—धन्य हैं, धन्य हैं ! कुल को, वरन जगत को अपने निर्मल प्रेम से पवित्र करनेवाली हैं ।

(नेपथ्य म वेणु का शब्द होता है)

अहा ! यह बशी का शब्द तो श्रीर भी वजलीला की सुधि मिलाता है । चलिए, चलिए अब तो ब्रज का वियोग सहा नहीं जाता सीध ही चन व उनका प्रेम देखें, उन लीला व बिना देखे यों व्यकुल हो रही हैं ।

(दोनों जाते हैं )

इति प्रेममुख नामक विष्कम्भक ।

— —

# पहिला झट्का

(जवनिका उठी)

(स्थान—श्रीवृन्दावन, गिरिराज दूर से दिखाता है ।)

(श्रीचन्द्रावली और ललिता आती हैं)

ललिता—प्यारी, व्यर्थ इतना सोच क्यों करती है ?

चन्द्रा०—नहीं सखी ! मुझे सोच किस बात का है ।

ललिता—ठीक है, ऐसी ही तो हम मूर्ख हैं कि इतना भी नहीं समझती ।

चन्द्रा०—नहीं सखी ! मैं सब कहती हूँ, मुझे कोई सोच नहीं ।

ललिता—बलिहारी सखी ! एक तू ही तो चतुर है, हम सब तो निरी मूर्ख हैं ?

चन्द्रा०—नहीं सखी ! जो कुछ सोच होता तो मैं तुझसे कहती न ? तुझसे ऐसी कौन बात है जो छिपाती ?

ललिता—इतनी ही तो कसर है, जो तू मुझे अपनी प्यारी सखी समझती तो क्यों छिपाती ?

चन्द्रा०—चल मुझे दुख न दे, भला मेरी प्यारी सखी तू न होगी तो और कौन होगी ?

ललिता—पर यह बात मुख से कहती है, चित्त से नहीं ।

चन्द्रा०—क्यों ?

ललिता—जो चित्त से कहती तो फिर मुझसे क्यों छिपाती ?

चन्द्रा०—नहीं सखी ! यह केवल तेरा झूठा मन्देह है ।

ललिता - सखी ! मैं भी इसी ब्रज में रहती हूँ और सब के रंग-ढंग देखती ही हूँ । तू मुझसे इतना क्यों उड़ती है ? क्या तू यह

समझती है कि मैं यह भेद किसी से कह दूँगी ? ऐसा कभी न समझना । सखी, तू तो मेरी प्राण है, मैं तेरा भेद किमसे कहने जाऊँगी ?

च द्रा०—सखी ! भगवान न करे कि किसी को किसी बात का सन्नेह पड़ जाय, जिसको जो स देह पड़ जाता है वह फिर कठिनाता में मिटता है ।

सतिता—अच्छा ! तू सोयन्द खा ।

च द्रा०—हा सखी ! तेरी सोयन्द ।

सतिता—क्या मेरी सोयन्द ?

च द्रा०—तेरी सोयन्द, कुछ नहीं है ।

सतिता—क्या कुछ नहीं है, फिर तो चली न धपनी चाल से ? तेरी छल विद्या कही नहीं जाती, तू व्यर्थ इतना क्यों धिमाती है । सखी ! तेरा मुसडा कहे देता है कि तू कुछ न कुछ सोचा करती है ।

च द्रा०—क्या सखी ! मेरा मुखना क्या कहे देता है ?

सतिता—यही कहे देता है कि तू किसी की प्राप्ति में फसी है ।

च द्रा०—बलिहारी सखी ! मुझे अच्छा कतक दिया ।

सतिता—यह बलिहारी कुछ काम न आवेगी अतः मैं फिर मैं ही काम आऊँगी और मुझी से सब कुछ कहना पड़ेगा, क्योंकि इस रोग का वध मेरे सिवा दूसरा कोई न मिलेगा ।

च द्रा०—पर सखी ! जब कोई रोग हो सब न ?

सतिता—फिर वही बात कह जाती है, अब क्या मैं इतना भी नहीं समझती ! सखी ! भगवान न मुझे भी आँखें दी हैं और मेरा भा मन है और मैं कुछ ई ट-य पर की नहीं हू ।

च द्रा०—यह कौन कहता है कि तू ई ट-य पर की नहीं है, इससे क्या ?

ललिता—इससे यह कि इस व्रज में रह कर उससे वही बची होगी जो ईट-पत्थर की होगी ।

चन्द्रा०—किसमें ?

ललिता—जिसके पीछे तेरी यह दशा है ।

चन्द्रा०—किसके पीछे मेरी यह दशा है ?

ललिता—सखी ! तू फिर वही बात कहे जाती है ! मेरी रानी, ये आँखें ऐसी बुरी हैं कि जब किसी से लगती हैं तो कितना भी छिपाओ नहीं छिपती ।

छिपाये छिपत न नैन लगे ।

उधरि परत, सब जानि जात है घूँघट मैं न खगे ॥

कितनो करौ दुराव, दुरत नहीं जब ये प्रेम पगे ।

निडर भए उधरे से डोलत मोहनरग रँगे ॥

चन्द्रा०—वाह सखी ! क्यों न हो, तेरी क्या बात है । अब तू ही तो एक पहेली बूझनेवाली में बची है । चल, बहुत भूठ न ब्रोल, कुछ भगवान से भी डर ।

ललिता—जो तू भगवान से डरती तो भूठ क्यों बोलती ? वाह सखी ! अब तो तू बड़ी चतुर हो गई है । कैसा अपना दोष छिपाने को मुझे पहिले ही से भूठी बना दिया । (हाथ जोड़ कर) धन्य है, तू दण्डवत करने के योग्य है । कृपा करके अपना वाँयाँ चरण निकाल तो मैं भी पूजा करूँ । चल मैं आज पीछे तुझसे कुछ न पूछूंगी ।

चन्द्रा०—(कुछ सकपकानी-सी होकर) नहीं सखी, तू क्यों भूठी है, भूठी तो मैं हूँ, और जो तू ही बात न पूछेगी तो कौन बात पूछेगा ? सखी ! तेरे ही भरोसे तो मैं ऐसी निडर रहती हूँ और तू ऐसी रूझी जाती है !



सलिता—नहीं, बस अब मैं कभी कुछ नहीं पूछने की। एक बेर पूछ कर पल पा चुकी।

चन्द्रा०—(हाथ जोड़ कर) नहीं सखी ! ऐसी बात मुह से मत निकाल ! एक तो मैं आप ही मर रही हूँ, तेरी बात सुनने से और भी अधमर हो जाऊँगी। (आँखों में आँसू भर लेती है)

सलिता—प्यारी ! तुझे मरी सौगद। उदास न हो मैं तो सब भानि तेरी हूँ और तेरे भले के हेतु प्राण देने को तयार हूँ। यह तो मैंने हसी की थी। क्या मैं नहीं जानती कि तू मुझमें कोई बात न छिपावेगा और छिपावेगी तो काम कैसे चलेगा, देख।

हम भेद न जानिहूँ जो प करूँ  
ओ दुराव सखी हम में परिहै।  
कहि कौन मिलहै पियारे पिय,

पुनि कारज कासो सब सरिहै ॥  
बिना मोसो कहै न उपाव करूँ

यह वेदन दूसरी को हरिहै ।  
नहि रोगी बताइहै रोगहि जो

सखी बापुरी बंद कहा करिहै ॥

चन्द्रा०—तो सखी, ऐसी कौन बात है जो तुझमें छिपी है ? तू जान बूझ के बार-बार क्या पूछती है ? ऐसे पूछने को तो मुह चिढ़ाना कहते हैं और इसके सिवा मुझ पर यथ याद दिला कर क्यों दुःख देती है ? हा !

सलिता—सखी ! मैं तो पहिल ही समुझी थी, यह तो केवल तेरे हठ करने से मैंने इतना पूछा, नहीं तो मैं क्या नहीं जानती ?

चन्द्रा०—सखी, मैं क्या करूँ, मैं कितना चाहती हूँ कि यह ध्यान भुला दूँ, पर उस गिहुर की छवि भूलती नहीं, इसी से सब जान जाते हैं।

ललिता—सखी, ठीक है ।

लगीही चितवन श्रीरहि होनि ।

दुरत न लाखे दुराओ कोऊ प्रेम भलके की जोति ॥

धूँधट मैं नहि विरत तनिक हूँ अति ललचीही वानि ।

छिपत न कैसहुँ प्रीति निगोड़ी अन्त जात सब जानि ॥

चन्द्रा०—सखी, ठीक है, जो दोष है वह इन्ही नेत्रों का है । यही रीझते, यही अपने को छिपा नहीं सकने और यही दुष्ट अन्त में अपने किये पर रोते हैं ।

सखी ये नैना बहुत बुरे ।

तब सो भये पराये, हरि सों जब सो जाइ बुरे ॥

मोहन के रसवस ह्वै डोलत तलफत तनिक बुरे ।

मेरी सीख प्रीति सब छाडी ऐसे ये निगुरे ॥

जग खीझ्यौ बरज्यौ पै ये नहि हठ सो तनिक बुरे ।

अमृत-भरे देखत कमलन से विष के बुते छुरे ॥

ललिता—इसमें क्या सन्देह है । मेरे पर तो सब कुछ बीत चुकी है । मैं इनके व्यवहारों को अच्छी रीति से जानती हूँ । ये निगोड़े नैन ऐसे ही होते हैं ।

होत सखि ये उलझाई नैन ।

उरभि परत, सुरभ्यौ नहि जानत, सोचत समुझत हैं न ॥

कोऊ नाहि बरजै जो इनको वनत मत्त जिमि गैन ।

कहा कही इन बैरिन पाछे होत लैन के दैन ॥

चन्द्रा०—और फिर इनका हठ ऐसा है कि जिसकी छवि पर रीझते हैं उसे भूलते नहीं, और कैसे भूले, क्या वह भूलने के योग्य है, हाँ !

नैना वह छवि नाहिन भूले ।

दया-भरी चहुँ दिसि की चितवनि नैन कमल-दल फूले ॥

वह आवनि, वह हँसनि छबीली, वह मुसकनि चित चोरै ।

वह बतरानि, मुरनि हरि की वह, वह देखन यह कोर ॥  
 वह धीरी गति कमल किरावन बर स गायन पाछे ।  
 वह बीरी मुख बनु बजावनि पीत पिछोरी काछे ॥  
 परबस भये किरत ह नना इक छन टरन न टारे ।  
 हरि ससि मुख ऐसी छबि निरखन तन मन धन सब हार ॥

सल्लिता—सखी ! मेरी तो यह विपत्ति भोगी हुई है । इसमें मैं तुम्हें कुछ नहीं कहती, दूसरी होती तो तेरी निन्दा करती और तुम्हें इससे रोकती ।

च द्रा०—सखी ! दूसरी होती तो मैं भी तो उसने यो एक सग न कह देनी । तू तो मेरी आत्मा है । तू मेरा दुःख भिटावेगी कि उलटा समझावेगी ?

सल्लिता—पर सखी ! एक बड़े आश्चर्य की बात है कि जसी तू इस समय दुखी है वसी तू मरना नहीं रहती ।

च द्रा०—नहीं सखी ! ऊपर से दुखी नहीं रहनी पर मरा जी जानता है उस रात घोंकती है ।

मनमोहन तें बिछुरी जब सो  
 तन आमुन सो सदा धोवनी हैं ।  
 हरिचंद जू प्रम के फल परी  
 कुल की कुल लार्जि सोवती है ॥  
 दुख क िन का काऊ भाति बित  
 विरजायन रन सजोवती हैं ।  
 हमही अपुनी दशा जान सखी,  
 निनि सोवनी हैं किधौ रावनी हैं ॥

सल्लिता—यह हो, पर मैंने तुम्हें जब देखा तब एक ही दशा में दगा

और सर्वदा तुझे अपनी आरसी वा किसी दर्पण में मुँह देखते पाया पर वह भेद आज खुला ।

हो तो याही सोच में विचारत रही री काहे,  
 दरपन होथ ते न छिन विसरत है ।  
 त्योही 'हरिचन्द जू' वियोग औ संयोग दोऊ,  
 एक से तिहारे कछु लखि न परत है ॥  
 जानी आज हम ठकुरानी तेरी बात,  
 तू तो परम पुनीत प्रेम पथ विचरत है ।  
 तेरे नैन मूरति पियारे की बसत, ताहि,  
 आरसी में रैन-दिन देखिबो करत है ॥

सखी ! तू धन्य है, बड़ी भारी प्रेमिन है और प्रेम शब्द को सार्थ करनेवाली और प्रेमियों की मण्डली की शोभा है ।

चन्द्रा०—नही सखी ! ऐसा नहीं है, मैं जो आरसी देखती थी उसका कारण कुछ दूसरा ही है । हा ! ( लम्बी साँस लेकर ) सखी ! मैं जब आरसी में अपना मुँह देखती और अपना रंग पीला पाती थी तब भगवान से हाथ जोड़ कर मनाती थी कि भगवान ! मैं उस निर्दयी को चाहूँ पर वह मुझे न चाहे, हा ! ( आँसू टपकते हैं )

ललिता—सखी ! तुझे मैं क्या समझाऊँगी, पर मेरी इतनी विनती है कि तू उदास मत हो ; जो तेरी इच्छा हो, पूरी करने को उद्यत हूँ ।

चन्द्रा०—हा ! सखी यही तो आश्चर्य है कि मुझे कुछ इच्छा नहीं है और न कुछ चाहती हूँ, तो भी मुझको उसके वियोग का बड़ा दुःख होता है ।

ललिता—सखी, मैं तो पहिले ही कह चुकी कि तू धन्य है । ससार में जितना प्रेम होता है, कुछ इच्छा लेकर होता है और सब लोग अपने

नित जो 'हरिचन्द' ज बीत सई,  
 बकि क जग बयो परितोतिहि छीजिए ।  
 सब पूछत मोन क्यों बठि रही,  
 पिय प्यारे कहा इहैं उत्तर दीजिए ॥

क्योंकि—

मरम की पीर न जानत कोय ।  
 कासा कहीं कौन पुनि माने बठि रहीं घर सोय ॥  
 कौऊ जरनि न जानतहारी बे-बरहम सब सोय ।  
 झुनी बहत मुनत नहि मरी बेहि समुझाऊँ सोय ॥  
 सोब-साज कुन की मरजाया दीनी है सब सोय ।  
 'हरिचन्द' ऐसेहि निबहैगी होतो होय सो होय ॥

परन्तु प्यारे तुम तो सुननेवाले हो ? यह आश्चर्य है कि तुम्हारे हाते हमारी यह गति हो । प्यारे ! जिनको नाथ नहीं होते व भनाय बहाते हैं । (नेत्रों से आँसू गिरते हैं) प्यारे ! जो मही गति करती थी तो धरताया क्यों ?

वहिन मुसुबाइ लजाइ कछु  
 क्यों चित मुरि मो तन छाम किया ।  
 पुनि नैन लगाइ बड़ाइ प्रीति  
 निबाहन को क्यों बस्ताम किया ॥  
 'हरिचन्द' मए निरमोही इत निज  
 नह को या परिताम किया ।  
 मन माहि जो तोग्न ही को हूनी,  
 दपनाइके क्यों बस्ताम किया ॥

प्यारे, तुम बड़े निरमोही हो । हा ! तुम्हें मोह भी नहीं छाता ? (आँसों में आँसू भर कर) प्यारे ! इतना ता बे नहीं खाने जो वहिन मुस दते हैं तो तुम किन माने इतना मगाने हो ? क्योंकि—

जिय सूधी चितौन की साधै रही,  
 सदा बातन मैं अनखाय रहे ।  
 हँसिकै 'हरिचन्द' न बोले कभूँ,  
 जिय दूरहि सों ललचाय रहे ॥  
 नहि नेकु दया उर आवत है,  
 करिके कहा ऐसे सुभाय रहे ।  
 सुख कौन सो प्यारे दियो पहिले,  
 जिहिके बदले यो सताय रहे ॥

हा ! क्या तुम्हें लाज नहीं आती ? लोग तो सात पैर<sup>१</sup> सग चलते हैं उसका जन्म भर निवाह करते हैं और तुमको नित्य की प्रीति का निवाह नहीं है ! नहीं नहीं, तुम्हारा तो ऐसा स्वभाव नहीं था, यह नई बात है; यह बात नई है या तुम आप नये हो गये हो ? भला कुछ तो लाज करो ।

कित को ढरिगो वह प्यार सबै,  
 क्यौं रुखाई नई यह साजत ही ।  
 'हरिचन्द' भए हौ कहा के कहा,  
 अनवांलिवे मे नहि छाजत ही ॥  
 नित को मिलनो तो किनारे रह्यो,  
 मुख देखत ही दुरि भाजत ही ।  
 पहिले अपनाइ बढ़ाइकै नेह,  
 न रुसिवे मे अब लाजत ही ॥

प्यारे ! जो यही गति करनी थी तो पहिले सोच लेते । क्योंकि—

तुम्हरे तुम्हरे सब कोऊ कहै,  
 तुम्है सो कहा प्यारे सुनात नहीं ।

<sup>१</sup>. सप्तपदी, विवाह समय की ७ भाँवरी ।

वर्षा—तो चलो यासू नछू पूछ ।

बन०—चल ।

(तीना पास जाती है)

बन०—(चन्द्रावली के बान के पास) अरी मेरी बन की रानी चन्द्रावली ! ( कुछ ठहर कर ) राम ! सुनहू नहीं है ! ( और ऊँचे सुर से ) अरी मेरी प्यारी सखी चन्द्रावली ! ( कुछ ठहर कर ) हाय ! यह तो अपने सो बाहर होम रही है । अब काहें वो सुनेगी । ( और ऊँचे सुर से ) अरी ! सुने नायने री मेरी अलख लडती चन्द्रावली !

चन्द्रा०—( आखि ब द बिये ही ) हाँ हाँ अरी क्यों चित्ताय है ? चार भाग जायगो—

बन०—कौन सो चोर ?

चन्द्रा०—माखन को चोर, खीरन को चोर और भरे बित्त का चोर ।

बन०—सा कहाँ सा भाग जायगो ?

चन्द्रा०—केर बवे जाय है, अरी मैने अपनी आखिन में मूदि राख्यो है सो तू चित्तायगी तो निकमि भागगो ।

(बनदेवी चन्द्रावली की पीठ पर हाथ केरती है)

चन्द्रा०—(जल्दी से उठ, बनदेवी का हाथ पकड़ कर) कहाँ प्राणनाथ ! अब कहाँ भागोगे ?

(बनदेवी हाथ छुड़ा कर एक ओर, वर्षा साम्रा दूसरी ओर वृक्षों के पास हट जाती है)

चन्द्रा०—अच्छा क्या हुआ वो ही हृदय से भी निबल जाओ तो जानू, तुमने हाथ छड़ा दिया तो क्या हुआ मैं तो हाथ नहीं छोड़ने की । हा ! अच्छी प्रीति निबाही !

(वनदेवी सीटी बजाती है)

चन्द्रा०—देखो दुष्ट को, मेरा तो हाथ छुड़ा कर भाग गया, अब न जानें कहाँ खड़ा बसी बजा रहा है। अरे छलिया, कहाँ छिपा है ? बोल बोल कि जीते जी न बोलेगा ! (कुछ ठहर कर) मत बोल, मैं आप पता लगा लूंगी। (वन के वृक्षों से पूछती है) अरे वृक्षो ! बताओ तो मेरा लुटेरा कहाँ छिपा है ? क्यों रे मोरो, इस समय नहीं बोलते ? नहीं तो रात को बोल-बोल के प्राण खाए जाते थे । कहो न, वह कहाँ छिपा है ? (गाती है)

अहो अहो वन के रुख कहूँ देख्यौ पिय प्यारो ।  
मेरो हाथ छुड़ाइ कहौ वह कितैं सिधारो ॥  
अहो कदम्ब अहो अम्ब-निव अहो बकुल-तमाला ।  
तुम देख्यौ कहूँ मनमोहन सुन्दर नँदलाला ॥  
अहो कुज वन लता विरुध तृन पूछत तोसो ।  
तुम देखे कहूँ श्याम मनोहर कहहु न मोसो ॥  
अहो जमुना अहो खग मृग हो अहो गोबरधन गिरि ।  
तुम देखे कहूँ प्रानपियारे मनमोहन हरि ॥

(एक एक पेड़ से जाकर गले लगती है। वनदेवी फिर सीटी बजाती है)

चन्द्रा०—अहा ! देखो, उधर खड़े प्राणप्यारे मुझे बुलाते हैं तो चलो उधर ही चले। (अपने आभरण सँवारती है)

(वर्षा और सन्ध्या पास आती है)

वर्षा—(हाथ पकड़ कर) कहाँ चली सजि कै ?—

चन्द्रा०—प्यारे सो मिलन काज,

वर्षा—कहाँ तू खड़ी है ?—

चन्द्रा०—प्यारे ही को यह धाम है ।



वर्या—कहा कहै मुय सो ?—

चन्द्रा०—पियारे प्राण प्यारे,

वर्या—कहा बाज है ?—

चन्द्रा०—पियारे सो मिलन मोहि काम है ॥

वर्या—मैं हूँ कौन बोल तो ?—

चन्द्रा०—हमारे प्राणप्यारे हो न ?

वर्या—तू है कौन ?—

चन्द्रा०—पीतम पियारे मेरो नाम है ।

सध्या—(आश्चय से) प्रछन सखी व एक उत्तर बतावनि जकी सी  
एक रूप बाज श्यामा भई श्याम है ।

(बनदेवी आ कर चन्द्रावली की पीछे से भाँव बढ़ करती है)

चन्द्रा०—कौन है, कौन है ?

बन०—मैं हूँ ।

चन्द्रा०—कौन तू है ?

बन०—(सामने आ कर) मैं हूँ, तेरी सखी वृन्दा ।

चन्द्रा०—तो मैं कौन हूँ ?

बन०—तू तो मेरी प्यारी सखी चन्द्रावली है न ? तू भगने हूँ को भूल  
गई ।

चन्द्रा०—तो हम लोग अकेले बन में क्या कर रही हैं ?

बन०—तू अपने प्राणनाथ खोजि रही है न ?

चन्द्रा०—हा ! प्राणनाथ ! हा ! प्यार ! प्यारे अकेले छोड़ के कहाँ  
चले गए ? नाथ ! ऐसी ही बदी थी ! प्यारे यह बन इसी विरह  
का दुःख करने के हेतु बना है कि तुम्हारे साथ विहार करने को ?  
हा !

जो पै ऐसिहि करन रही ।

तो फिर क्यों अपने मुख सो तुम रस की बात कही ॥

हम जानी ऐसिहि बीतैगी जैसी बीति रही ।

सो उलटी कीनी विधिना ने कछु नाहि निवही ॥

हमें विसारि अनत रहे मोहन और चाल गही ।

‘हरीचन्द’ कहा को कहा ह्वै गयो कछु नहि जात कही ॥

(रोती है)

वन०—(आँखों में आँसू भरके) प्यारी ! अरी इतनी क्यों घवराई जाय है, देख तो यह सखी खडी हैं सो कहा कहेगी ?

चन्द्रा०—ये कौन हैं ?

वन०—(वर्षा को दिखा कर) यह मेरी सखी वर्षा है ।

चन्द्रा०—यह वर्षा है तो हा ! मेरा वह आनन्द का घन कहाँ है ? हा !

मेरे प्यारे ! प्यारे कहाँ बरस रहे हो ? प्यारे, गरजना इधर और बरसना और कही ?

बलि सांवरी सूरत मोहनी मूरत

आँखिन को कवौ आइ दिखाइए ।

चातिक सी मरै प्यासी परी

इन्हें पानिप रूप सुधा कवौ प्याइए ॥

पीत पट विजुरी से कवौ

‘हरिचन्द जू’ धाइ इतै चमकाइए ।

इतहू कवौ आइकै आनंद के घन

नेह को मेह पिया बरसाइए ॥

प्यारे ! चाहे गरजो चाहे लरजो, इन चातको की तो तुम्हारे बिना और गति ही नहीं है, क्योंकि फिर यह कौन सुनेगा कि चातक ने दूसरा जल पी लिया; प्यारे ! तुम तो ऐसे करुणा के समुद्र हो कि केवल हमारे एक जांचक के मांगने पर नदी-नद भर देते हो तो

चातक के इस छोटे चपुपुट भरने में कौन श्रम है क्योंकि प्यारे हम दूसरे पक्षी नहीं हैं कि किसी नाँति प्यास बुझा लेंगे । हमारे ताँह दयाम घन । तुम्हो अबलम्ब हो; हा ।

(नेत्रों में जल भर लेती है और तीनों परस्पर चकित हो कर देखती हैं)  
बन०—सखी, देखि तो बछू इनकी हैं सुन बछू इनकी हैं लाज कर ।

भरी, यह तो नई भाई हैं य कहा कहूँगी ?

सख्या—सखी यह कहा कहे हैं ? हम तो याको प्रेम देखि बिन मोल बी दासी हाय रही हैं और तू पंडिताइन बनि क मान छाँटि रही है ?

चन्द्रा०—प्यारे ! देखो, ये सब हँसती हैं—तो हमें, तुम भाग्यो, कहाँ बन में छिपे हो ? तुम मुँह दिखताओ, इनको हँसने दो ।

धारन दीजिए धीर हिए कुलकानि को आजु बिगारन दीजिए ।

भाग्य दीजिए लाज सब हरिचंद कलक पसारन दीजिए ॥

चार चवाइन को चहुँ ओर सो सोर मचाइ पुकारन दीजिए ।

छाँडिसेँकोचन चद-मुख भरि लोचन आजु निहारन दीजिए ॥

क्योंकि—

य दुखिया सदा रोयो कर विधना इनको कबहूँ न दियो मुख ।

भूठही चार चवाइन के डर देख्यो कियो उनही को लिमे सरा ॥

छाँड्यो सब हरिचंद तऊँ न गयो जिय सो यह हाय महा दुख ।

मान बचै कहि भातिन साँ तरस जब दूर साँ देखिब का मुख ॥

(रोनी है)

बन०—(आँसू अपने आँचल से पाल कर) ती य यही नाँय रहिब का, सखी ! एक घड़ी धीरा घर, जब हम चली जायें तब जा चाहियो सो करियो ।

चन्द्रा०—भरी सखियो माहि क्षमा करिया, भरी देखो तो तुम मेरे पास भाई और हमने तुमारो बछू सिष्टाचार न कियो । (नेत्रों में

आसू भर कर हाथ जोड़ कर ) सखी ! मोहि क्षमा करियो और जानियो कि जहाँ मेरी बहुत सखी हैं उनमे एक ऐसी कुलच्छिनी है ।

सन्ध्या और वर्षा—नही नही सखी, तू तो मेरी प्रानन सो हू प्यारी है, सखी हम सब कहें तेरी सी साँची प्रेमिन एक हू न देखी, ऐसे तो सबी प्रेम करे पर तू सखी बन्ध है !

चन्द्रा०—हाँ सखी, और (सन्ध्या को दिखाकर) या सखी को नाम का है?

बन०—याको नाम सन्ध्या है ।

चन्द्रा०—(घबड़ा कर) सन्ध्यावली आई? क्या कुछ संदेसा लाई? कहो, कहो प्रानप्यारे ने क्या कहा? सखी बड़ी देर लगाई? (कुछ ठहर कर) सन्ध्या हुई? तो वह बन से आते होंगे! सखियो, चलो भरोखो मे वैंठें, यहाँ क्यों बैठी हो?

(नेपथ्य में चन्द्रोदय होता है; चन्द्रमा को देख कर)

अरे अरे वह देखो आया (उँगली से दिखा कर)

देख सखी देख अनमेख ऐसो भेख यह  
जाहि पेख तेज रविहू को मंद हूँ गयो ।

‘हरीचन्द’ ताप सब जिय को नसाइ चित्त,  
आनंद बढ़ाई भाइ अति छकि सो छयो ॥

गवाल-उडुगन वीच वेनु को बजाइ सुधा-  
रस बरखाइ मान कमल लजा दयो ।

गोरज-समूह घन-पटल उघारि वह  
गोप-कुल-कुमुद-निसाकर उदै भयो ॥

चलो चलो, उधर चलो । (उधर दौडती है)

बन०—(हाथ पकड़ कर) अरी वावरी भई है, चन्द्रमा निकस्यो है, के वह बन सो आवै है?

माधुरी—निसाम तू ता बामिनी ठहरी, तू बचना क्या जान ।

बामिनी—चल ठठोलिन । तेरी माया म भयो तब उस नि का  
गुमारी भरी है, इसी से किसी को कुछ नहीं समझती । तर गिर  
बीते तो मामूम पड़ ।

माधुरी—बीती है मर गिर । मैं एसी कच्ची नहीं कि मोटे म बहुत  
उबल पड़ू ।

बामिनी—चल, तू हई है क्या बि न उबल पड़ेगी । स्ना की विमान  
ही बितनी । बड़े-बड़े योगिया के ध्यान इस बरगान म छू जात  
है, बार्द मागी हान ही पर मन ही मन पछताते हैं, कोई जटा  
पटक कर हाय हाय बिस्ताते हैं, और बहुतेरे तो तुमही ताड-नाड  
कर योगी से भोगी हो ही जात हैं ।

माधुरी—तो तू भी किसी सिद्ध स बान फुँकवा कर तुमही तोडवाल ।

बामिनी—चल ! तू क्या जाने इस पीर को । सखी, यही भूमि और  
यही कर्देब कुछ दूसरे ही हो रह हैं और यह दुष्ट बादल मन  
ही दूसरा किये देते हैं । तुम्हें प्रेम हो तब सूझे । इस आनंद  
की धुनि म ससार ही दूसरा एक विविध शोभाशाला और  
सहज काम जगानेवाला मालूम पड़ता है ।

माधुरी—बामिनी पर काम का दावा है इसी से हेर फेर उसी को बहुत  
छेन करता है ।

(निपट्य मे बारम्बार मोद ब्रूकते हैं)

बामिनी—हाय-हाय ! इस बठिन कुलाहल से बचने का उपाय एक  
विषयान ही है । इन दर्दभारा का ब्रूकना और पुरवशा का  
भक्भोर कर चलना, यह दो बात बड़ी बठिन हैं । धन्य हैं व  
जो ऐसे समय म रग-रग व पड पडिने ऊँची ऊँची सटारिया  
पर चढ़ी पीतम के संग घटा और हरियाली देखती है वा

वगीचो, पहाड़ो और मैदानो में गलवाही डाले फिरती हैं। दोनों परस्पर पानी बचाते हैं और रगीन कपड़े निचोड़ कर चौगुना रंग बढ़ाते हैं। झूलते हैं, झुलाते हैं, हँसते हैं, हँसाते हैं, भीगते हैं, भीगाते हैं, गाते हैं, गवाते हैं और गले लगते हैं, लगाते हैं।

माधुरी—और तेरो न कोई पानी बचानेवाला, न तुझे कोई निचोड़ने वाला, फिर चौगुने की कौन कहे ड्योढ़ा सवाया तो तेरा रंग बढ़ेहीगा नहीं।

कामिनी—चल लुच्चिन ! जाके पाये न भई विवाई सो क्या जानै पीर पराई।

(बात करती-करती पेड़ की आड़ में चली जाती है)

माधवी—(चन्द्रावली से) सखी श्यामला का दर्शन कर, देख कैसी सुहावनी मालूम पड़ती है। मुखचन्द्र पर चूनरी चुई पड़ती है। लटे सगवगी हो कर गले में लपट रही है। कपड़े अंग में लपट गये हैं। भीगने से मुख का पान और काजल सबकी एक विचित्र शोभा हो गई है।

चन्द्रा०—क्यों न हो। हमारे प्यारे की प्यारी है। मैं पास होती तो दोनों हाथों से इसकी बलैया लेती और छाती से लगाती।

का० मं०—सखी, सचमुच आज तो इस कदम्ब के नीचे रंग बरस रहा है। जैसी समा बैठी है वैसी ही झूलनेवाली है। झूलने में रंग रंग की साड़ी की अर्द्धचन्द्राकार रेखा इन्द्रधनुष की छवि दिखाती है। कोई सुख से बैठी झूले की ठण्डी-ठण्डी हवा खा रही है, कोई गाँती बाँधे लाँग कसे पैग मारती है, कोई गाती है, कोई डर कर दूसरी के गले में लिपट जाती है, कोई उतरने को अनेक सौगन्द लेती है, पर दूसरा उसको चिढ़ाने को झूला और भी झोके से झुला देती है।

माधवी—हिडोरा ही नहीं झूतता । हृदय में प्रीति का झुनाने का मनोरथ और नता में पिशा की मूर्ति भी झूठ रही है । सखा आज साँवला ही की मही और धूनरी पर ता रग है । देख त्रिजुली की चमक में उसकी मुखछवि बसा गुदर चमक उठनी है और बस पवन भी बार-बार घूँघट उलट दता है । देख—

हूलति हिये में प्रानप्यारे का विरह-मून

फूलति उमगभरी झूनति हिडोरे प ।

गावति रिभावति हँसावति सबन हरि

चन्द्र चाव चौगुनो बडाइ घन घोरे प ॥

बारि बारि डारी प्रान हनति मुरनि यत

रान मुह पान कजरारे दृग डोरे प ।

ऊनरी घटा में देखि दूनरी लगी है आहा

कैसी आजु धूनरी पड़ी है मुख गोरे प ॥

चन्द्रा०—सखियो, देखो कसी शयन और गजब है कि मा रुन में सब अपने मनोरथ पूरे करें और मरी यह दुःखनि होय । भलो काहुव तो दया आवनी । (आँखों में आँसू भर लेती है)

माधवी—सखी, तू क्यों उदास होय है । हम सब कहा करें, हम तो आनाकारिणी दासी ठहरीं, हमारा का अलप्यार है तऊ हमम सा तो कीऊ कछु तोहि नार्य कहे ।

का० म०—भलो सखी, हम याहि कहा कहंगी । याहू तो हमारी छोटी स्वामिनी ठहरी ।

विलासिनी—हा सखी ! हमारी तो दोऊ स्वामिनी हैं । सखी ! बात यह है कि खराबी तो हम लोगन की है ये दोऊ फेर एक की एक होयगा । लागी मार सा पानी पागे हूँ जुटा हा जायगो, पर मनी जो मुन पाव कि निमका सखा न चन्द्रावनिवै भकलि छाडि दीनी तो फेर देता तमासा ।

माधवी—हमवै वीर । और फेर कामहू तो हमी सब विगारे । अब देखि कौन ने स्वामिनी सो चुगली खाई । हमारेई तुमारे मे सो बहू है । सखी चन्द्रावलियै जो दुःख देयगी वह आप दुःख पावेगी ।

चन्द्रा०—(आप ही आप) हाय ! प्यारे, हमारी यह दशा होती है और तनिक नहीं ध्यान देते । प्यारे, फिर-फिर यह शरीर कहाँ और हम तुम कहाँ ? प्यारे, यह संयोग हमको तो अब की ही बना है, फिर यह बातें दुर्लभ हो जायेगी । हाय नाथ ! मैं अपने इन मनोरथों को किसको सुनाऊँ और अपनी उमंगें कैसे निकालूँ ! प्यारे, रात छोटी है और स्वाँग बहुत है । जीना थोड़ा और उत्साह बढ़ा । हाय ! मुझ-सी मोह में डूबी को कही ठिकाना नहीं । रात-दिन रोते ही बीतते हैं । कोई बात पूछनेवाला नहीं, क्योंकि संसार में जी कोई नहीं देखता, सब ऊपर ही की बात देखते हैं । हाय ! मैं तो अपने-पराए सबसे बुरी बन कर बेकाम हो गई । सबको छोड़ कर तुम्हारा आसरा पकड़ा था सो तुमने यह गति की । हाय ! मैं किसकी होके रहूँ, मैं किसका मुँह देख कर जिऊँ । प्यारे, मेरे पीछे कोई-ऐसा चाहनेवाला न मिलेगा । प्यारे, फिर दीया ले कर मुझको खोजोगे । हा ! तुमने विश्वासघात किया । प्यारे, तुम्हारे निर्दयीपन की भी कहानी चलेगी । हमारा तो कपोत-व्रत है । हाय ! स्नेह लगा कर दगा देने पर भी सुजान कहलाते हो । बकरा जान से गया, पर खानेवाले को स्वाद न मिला ! हाय ! यह न समझा था कि यह परिणाम करोगे । वाह ! खूब निवाह किया । अधिक भी बध कर सुधि लेता है, पर तुमने न सुधि ली । हाय ! एक बेर तो आ कर अक में लगा जाओ । प्यारे, जीते जी आदमी का गुन नहीं मालूम होता । हाय ! फिर तुम्हारे मिलने को कौन तरसेगा और कौन रोवेगा । हाय ! संसार छोड़ा भी नहीं जाता । सब दुख सहती हूँ, पर इसी में फँसी पड़ी हूँ । हाय नाथ ! चारों ओर से



पकड़ कर एमी बेनाम क्या कर जानी है। प्यारे, यों ही रातें दिन  
 बीतेंगे। नाथ ! यह हवम मन की मन ही म रह जायगी। प्यारे,  
 प्रगट होकर संभार का मुह क्या नहीं बंद करते और क्या  
 संकाशार खुला रखते हो ? प्यारे सब दीनदयानुता कहाँ गई !  
 प्यार जलता इस ससार स छुड़ाओ। अब नहीं सह्य जाता। प्यारे,  
 जमी ह, तुम्हारी हैं। प्यार, भयन कभीहूँ को जयन की कभीहूँ  
 मन बनाया। नाथ, जहाँ दत्तने गुन सीखे वहाँ प्रीति निबाहना करान  
 सीखा ? हाय ! मन्धार मं दुबा कर ऊपर स उतराई मांगने हो  
 प्यारे, मा भी द चुकी, सब तो पार लगाओ। प्यारे सब की ह  
 जानी है। हाय ! हम तड़पें और तुम तमांगा देखो। जन कुटुम्ब  
 मे छुटाकर यो छिउर बितर करके बेकाम कर देना यह कोन बात  
 है। हाय ! सबकी आँखों म हलसी हा गई। जहाँ जाया  
 वहाँ दूर दूर, उस पर यह गति ! हाय ! “भामिना त  
 भीड़ी करी, मानिनी ते भीड़ी करी, कौड़ी करी हीरा त,  
 कनीड़ी करी कुल तें।’ तुम पर बड़ा क्रोध आता है और  
 कुछ कहन को जी चाहता है। बस अब मैं गाली दूंगी।  
 और क्या कहूँ, बस आप आप ही हो, देखो गाली म भी तुम्हें मैं  
 समबाक्य कहूँगी—भूठे, निदय, निघरा, “निदय हृदय काट’,  
 बनेडिये और निलज्ज, य सब तुम्हें सच्ची गानियाँ हैं, भला जो कुछ  
 करना ही नहीं था तो इतना क्या भूँ बने ? । किसने  
 बकाशा या ? कूँ कूँकर प्रतिज्ञा करने बिना क्या दूरी जागी थी ?  
 भूठे ! भूठ ।।। भूठ ।।। भूठ ही नहीं बरध विश्वासघातक !  
 क्यों इनकी छानी ठोक और हाथ उठा उठाकर लोगो को विश्वास  
 लिया ? आप ही सब मरत चाहे जहनुम म पढ़ने, और उस पर  
 तुरी यह है कि किमो को चाह किजना नी दुखी देखें भानको कब  
 पणा तो आती ही नहीं। हाय हाय कने कने दुखा पाग हैं— और



यह सब मरे बम का दोष है। नाथ मैं तो तुम्हारा नित्य का  
अपराधिनी हूँ। प्यारे क्षमा करो। मरे अपराधा की ओर न  
दलो, अपनी ओर देखो। (रोती है)

माधवी-हाय-हाय सखियो ! यह तो रोय रही है।  
काम म०-सखी प्यारी ! रोवे मती। सखी तोहि मेरे मिर की सोह जो  
रोवे।

माधवी-सखी, मैं तेरे हाथ जाडूँ मत रोव। सखी ! हम सदन को जाक  
भरयो आवे है।

विला०-सखी जो तू बहेगी हम सब करेंगी। हम भले ही प्रियाजा की  
रिस सहगी, पर तोसू हम सब काहू बात सा बाहर नहीं।

माधवी-हाय हाय। यह तो माने ही नहीं। (आँसू पोछ कर) मेरी प्यारी  
मैं हाथ जोडूँ, हा हा खाऊँ, मानि जा।

काम म०-सखी याता, मति कलू कहो। आओ, हम सब मिलि के विचार  
करें जासो याको काम होय।

विला०-सखी हमारे तो प्रान ताइ माय निछावर हैं पर जो कलू उपाय  
सुभे।

चन्द्रा०-(रो कर) सखी, एक उपाय सुभे सुझा है जो तुम मानो।

माधवी-सखी, क्यों न मानगी तू वह क्या नहीं।

चन्द्रा०-सखी, मुझ यहाँ प्रवेली छोड़ जाओ।

माधवी-तो तू अक्ली यहाँ का करेगी ?

चन्द्रा०-जो मरी इच्छा होगी।

माधवी-मलो, तेरी इच्छा का होयगा हमहूँ सुन ?

चन्द्रा०-सखी, वह उपाय कहा नहीं जाता।

माधवी-तो का अपनो प्रान देगी। सखी, हम ऐसा भोरी नहीं हूँ व तोहि  
प्रवेली छोड़ जावेंगी।

विला०—सखी, तू व्यर्थ प्राण देने को मनोरथ करे है, तेरे प्राण तोहि न छोड़ेगे। जो प्राण तोहि छोड़ जायँगे तो इनको ऐसी सुन्दर शरीर फेर कहाँ मिलेगो।

का० मं०—सखी, ऐसी बात हम सँ मति कहे, और जो कहे सो सो हम करिवे को तयार है, और या बात को ध्यान तू सपने हू मे मति करि। जब ताई हमारे प्राण है तब ताई तोहि न मरन देयँगी। पीछे भलेई जो होय सो होय।

चन्द्रा०—(रोकर) हाय ! मरने भी नहीं पाती। यह अन्याय !

माधवी—सखी, अन्याय नहीं यही न्याय है।

का० मं०—जान दै माधवी वासो मति कछु पूछे। आओ हम तुम मिलके सल्लाह करे, के अब का करना चाहिए।

विला०—हाँ माधवी, तू चतुर है, तू ही उपाय सोच।

माधवी—सखी, मेरे जी मे तो एक बात आवे। हम तीनि है सो तीनि काम बाँटि-ले। प्यारीजू के मनाइवे को मेरी जिम्मा। यही काम सब मे कठिन है और तुम दोउन मे सो एक याके घरकेन सो याकी सफाई करावे और एक लालजू सो मिलिवे की कहे।

का० मं०—लालजी सो मैं कहूँगी। मैं विन्नै बहुती लजाऊँगी और जैसे होयगो वैसे यासो मिलाऊँगी।

माधवी—सखी, वेऊ का करे। प्रिया जी के डर सो कछू नहीं कर सकें।

विला०—सो प्रियाजी को जिम्मा तेरो हई है।

माधवी—हाँ, हाँ, प्रियाजी को जिम्मा मेरो।

विला०—तो याके घर को मेरो।

माधवी—भयो, फेर का। सखी, काहू बात को मोच मति करे। उठि।

चन्द्रा०—सखियो ! व्यर्थ क्यों यत्न करती हो। मेरे भाग्य ऐसे नहीं हैं कि कोई काम सिद्ध हो।

(दोनों आदर करके बठाती हैं)

सलिला—हमारे बड़े भाग जो आपु सी महात्मा के दरसन भए ।

चन्द्रा—(आप हो आप) न जाने क्या इस जोगिन की धोर मेरा मन  
आपस आप खिचा जाता है ।

जोगिन—भलो हम अतीतन को दरसन कहा, या ही नित्य ही घर घर  
बोलत फिरें ।

सलिला—कहाँ तुम्हारा देस है ?

जोगिन—प्रेम नगर पिय गाँव ?

सलिला—कहा गुरु कहि बोलही ?

जोगिन—प्रेमी मेरो नाँव ॥

सलिला—जोग लियो केहि कारन ?

जोगिन—अपन पिय के काज ।

सलिला—मन कौन ?

जोगिन—पियनाम इक ,

सलिला—कहा तज्यो ?

जोगिन—जय-राज ॥

सलिला—आसन किन ?

जोगिन—जितही रमे ,

सलिला—पम कौन ?

जोगिन—अनुराग ।

सलिला—साधन कौन ?

जोगिन—पिया-मिलन ,

सलिला—गादी कौन ?

जोगिन—गुहाग ॥

नन कहे गुरु मनियो, बिरह सिद्धि उपदेस ।

सब सा सब कुछ छोड़ि हम फिरत देस-परदेस ॥

चन्द्रा०—(आप ही आप) हाय ! यह भी कोई बड़ो भारी वियोगिन है तभी इसकी ओर मेरा मन आपसे आप खिंचा जाता है ।

ललिता—तो संसार का जोग तो और ही रकम को है और आपको तो पन्थ ही दूसरो है । तो भला हम यह पूछे कि का संसार के और जोगी लोग वृथा जोग साधे हैं ?

जोगिन—यामे का सन्देह है, सुनो—(सारंगी छेड़ कर गाती है)

पचि मरत वृथा सब लोग जोग सिर धारी ।  
साँची जोगिन पिय बिना वियोगिन नारी ॥

विरहागिन धूनी चारो ओर लगाई ।  
बसी धुनि की मुद्रा कानो पहिराई ॥  
अँसुअन की सेली गल मे लगत सुहाई ।  
तन घूर जमी सोई अग भभूत रमाई ॥

लट उरझि रही सोइ लटकाई लट कारी ।  
साँची जोगिन पिय बिना वियोगिन नारी ॥

गुरु विरह दियो उपदेस सुनो ब्रजवाला ।  
पिय बिछुरन दुख को बिछाओ तुम मृगछाला ॥  
मन के मनके की जपो पिया की माला ।  
विरहिन की तो है सभी निराली चाला ॥

पीतम से लगि ली अचल समाधि न टारी ।  
साँची जोगिन पिय बिना वियोगिन नारी ॥

यह है सुहाग का अचल हमारे बाना ।  
असगुन की मूरति खाक न कभी चढाना ॥  
सिर सेदुर दे कर चोटी गूँथ बनाना ।  
कर चूरी मुख मे रंग तमोल जमाना ॥

पीना प्याला भर रखना वही खुमारी ।  
साँची जोगिन पिय बिना वियोगिन नारी ॥

है पथ हमारा नना के मन जाना ।  
 कुल लोक वेद सब श्री परलोक मिटाना ॥  
 शिवजी स जोगी का भा जाग सिसाना ।  
 'हरिच' एक प्यार स नह बढाना ॥  
 एस विषाग पर लाख जाग नलिहारी ।  
 साँचा जोगिन पिय बिना बियोगिन नारी ॥

च द्रा०—(भाप ही भाप) हाय-हाय ! इसका गाना कसा जी को बेव  
 डालता है । इसके स-का जी पर एक ऐसा विचित्र अधिकार  
 होता है कि वगन क बाहर है । या मरा जी हो चोटल हो रहा  
 है । हाय हाय ! ठीक प्रानप्यारे बी-सा इसका आवाज है । (बल-  
 पूर्वक आमुओ को रोक कर और जी बहना कर) कुछ इससे और  
 गवाऊ । (प्रगट) जागिय जा कष्ट न होना कुछ और गाया । (कह  
 कर कभी चाव से उसकी ओर देखती है और कभी नीचा सिर  
 करके कुछ सावन लगती है)

जोगिन—(मुस्करा कर) अच्छा प्यारी ! सुनो । (गानी है)

जोगिन रूपसुधा की प्यासी ।

बिनु रिय मिनैं किरत बन ही बन छाद्र मुलहि उदासी ॥  
 भोग छोडि धन धाम काम तजि भई प्रेम-वनवासी ।  
 पिय हिन अलख प्रनख रट लागी पीतम रूप उपासी ॥  
 मनमाहन प्यार तरे लिए जोगिन बन बन बन छान फिरी ।  
 कोमल से तन पर छाक मली ले जोग स्वार्थ सामान फिरी ॥  
 तरे दरसन कारन डगर डगर करती तेरा गूत-गान फिरी ।  
 भव तो मूरत खिलता प्यारे 'हरिचन्द' बहुत हैरान फिरी ॥

च द्रा०—(भाप ही भाप) हाय, यह तो सभी बातें पते की कहती है ।  
 मरा कलेत्रा तो एक साथ ऊपर की खिचा जाता है । हाय ! 'भव  
 तो मूरत खिलता प्यारे ।

जोगिन—तो अब तुमको भी गाना होगा । यहाँ तो फकीर है । हम तुम्हारे सामने गावें तुम हमारे सामने न गाओगी । (आप ही आप) भला इसी वहाने प्यारी की अमृत बानी तो सुनेगे । (प्रगट) हाँ ! देखो, हमारी यह पहिनी भिक्षा खाली न जाय, हम तो फकीर हैं हमसे कौन लाज है ?

चन्द्रा०—भला मैं गाना क्या जानूँ । और फिर मेरा जी भी आज अच्छा नहीं है, गला बँठा हुआ है । (कुछ ठहर कर नीची आँख करके) और फिर मुझे सकोच लगता है ।

जोगिन—(मुसक्या कर) बाह रे संकोचवाली ! भला मुझसे कौन सकोच है ? मैं फिर रुठ जाऊँगी जो मेरा कहना न करेगी ।

चन्द्रा०—(आप ही आप) हाय-हाय ! इसकी कैसी मीठी बोलन है जो एक साथ जी को छीने लेती है । जरा से भूठे क्रोध से जो इसने भीहे तनेनी की है वह कैसी भली मालूम पड़ती है । हाय ! प्राणनाथ कही तुम्हीं तो जोगिन नहीं बन आए हो । (प्रगट) नहीं-नहीं, रूठो मत, मैं क्यों न गाऊँगी । जो भला-बुरा आता है सुना दूँगी, पर फिर भी कहती हूँ, आप मेरे गाने से प्रसन्न न होगी । ऐ मैं हाथ जोड़ती हूँ मुझे न गवाओ । (हाथ जोड़ती है)

ललिता—बाह, तुम्हें नये पाहुने की बात अवश्य माननी होगी । ले मैं तेरे हाथ जोड़े हूँ, क्यों न गावेगी । यह तो उससे बहाली बता जो न जानती हो ।

चन्द्रा०—तो तू ही क्यों नहीं गाती । दूसरो पर हुकुम चलाने को तो बड़ी मुस्तैद होती है ।

जोगिन—हाँ हाँ, सखी तू ही न पहिले गा । ले मैं सरगी से सुर की आस देती जाती हूँ ।

ललिता—यह देखो । जो बोले सो घी को जाय । मुझे क्या, मैं अभी गाती हूँ ।



(राग बिहग—गाता है)

अलख गति जूगल पिया-प्यारी की ।

को लखि सक सखन नहि आवै तेरी गिरधारी की ॥

बलि बलि बिद्युरनि मिचनि हँसनि रूठनि नित ही यागी की ।

त्रिभुवन की सब रति गति मति छवि या पर बलिहारी की ॥

चन्द्रा०—(आप हो आप) हाय ! यहाँ भाज न जाने क्या हो रहा है  
मैं कुछ सपना तो नहीं देखती । मुझे तो भाज कुछ सामान ही  
दूसरे दिशा पड़ते हैं । भरे तो कुछ समझ ही नहीं पड़ता कि मैं  
क्या देख मुन रही हूँ । क्या मैंने कुछ नशा तो नहीं पिया है । अरे,  
यह जोगिन कही जादूगर तो नहीं है । (घबड़ाने से होकर इधर-  
उधर दलता है । इसकी दशा देख कर सलिला सङ्पत्ताती और  
जोगिन हँसती है)

सलिला—नया, आप हँसती क्या हैं ?

जोगिन—नही, याहा मैं इसको गीत सुनाया चाहती हूँ पर जो यह फिर  
गाने का बरार करे ।

चन्द्रा०—(घबड़ा कर) हाँ, मैं अवश्य गाऊंगी, आप गाएँ । (फिर  
ध्यानावस्थित सी हो जाती है)

(जोगिन सारंगी बजा कर गाती है)

(सरार)

तू कहि बितवनि चरित मृगी सी ?

कहि दूतन तरो बड़ा सापो क्यों मधुलानि लखानि ठगी सी ॥

तन मुधि बह उपरत री भाँवर कीन ह्यास तू रहति खगी सी ।

उतर न देव जकी भी बँटो मन् पीया क रन जगी सी ॥

चोकि चोकि बितवनि चारहु निस सपने निष दलति उमगी सी ।

भुनि बसरी मृगछोनी ज्यों निज दन तजि बटूँ दूर भगी सी ॥

करति न लाज हाट घर वर की कुलमरजादा जाति डगी सी ।

'हरीचंद' ऐसिहि उरभी तौ क्यों नहि डोलत संग लगी सी ॥

तू केहि चितवति चकित मृगी सी ?

चन्द्रा०—(उन्माद से) डोलूँगी-डोलूँगी सग लगी(स्मरण करके लजा कर आप ही आप) हाय-हाय ! मुझे क्या हो गया है । मैंने सब लज्जा ऐसी धो बहाई कि आये-गये भीतर बाहर वाले सबके सामने कुछ बक उठती हूँ । भला यह एक दिन के लिए आई विचारी जोगिन क्या कहेगी ! तो भी धीरज ने इस समय बड़ी लाज रक्खी नहीं तो मैं राम-राम, नहीं-नहीं, मैंने धीरे से कहा था किसी ने सुना न होगा । अहा ! संगीत और साहित्य में भी कैसा गुन होना है कि मनुष्य तन्मय हो जाता है । उस पर जले पर नोन । हाय नाथ ! हम अपने उन अनुभव सिद्ध अनुरागों और बढ़े हुए मनोरथों को किसको सुनावे जो काव्य के एक-एक तुक और संगीत की एक-एक तान से लाख-लाख गुन बढ़ते हैं और तुम्हारे मधुर रूप और चरित्र के ध्यान से अपने आप ऐसे उज्ज्वल, सरस और प्रेममय हो जाते हैं, मानो सब प्रत्यक्ष अनुभव कर रहे हैं । पर हा ! अन्न में कर्णारस में उनकी समाप्ति होती है क्योंकि शरीर की सुविधाते ही एक साय बेवसी का समुद्र उमड़ पड़ता है ।

जोगिन—ब्राह्म अत्र यह क्या सोच रही हो ? गाओ ले, अब हम नहीं मानेगी ।

ललिता—हाँ सखी, अब अपना वचन सच कर ।

चन्द्रा—(अर्द्धोन्माद की भाँति) हाँ हाँ, मैं गाती हूँ ।

(कभी आँसू भर कर, कभी कई बेर, कभी ठहर कर, कभी भाव बढ़ता कर, कभी बेसुर-ताल ही, कभी ठीक-ठीक, कभी दूटी आवाज से पागल की भाँति गाती है )

मन की कासा पीर सुनाऊँ ।

बकना बृथा और पत खोनी सब चवाई गाऊँ ॥  
 बठिन दरद कोऊ नहि हरिहै घरिहै उलटो नाऊ ।  
 मह तो जो जान सोइ जान क्यों करि प्रगट जनाऊँ ॥  
 रोम रोम प्रति नन अवन मन केहि धुनि रूप लखाऊँ ।  
 बिना सुजान सिंगेमनि री केहि हिपरो फाहि निखाऊँ ॥  
 मरमिन सतिन विषोग दुखिन कशैं कहि निजदसा रोधाऊँ ।  
 'हरीचंद' पिय मिले तो पग परि गहि पटुका समुभाऊ ॥

(गाते गाते बेसुध होकर गिरा चाहतो है कि एक बिजसी सी चमकती है और जोगिन आहूटण बनकर उठाकर गले लगाने हैं और नेपथ्य में बाजे बजते हैं)

सतिता—(बड़े आनंद से) सखी बघाई है, लाखन बघाई है । ले होश में आ जा । देख तो कौन तुम्हें गोद में लिये हैं ।

घट्टा—(उ माद की भाँति भगवान के गले में लपट कर)

पिय तोहि राखौगी भुजन में दाँधि ।  
 जान न दहौं तोहि पिशारे धरौंगी हिए सा नाँधि ॥  
 बाहर गर लगाइ राखौगी अंतर करौंगी समाधि ॥  
 'हरीच' छूटन नहि पही लाव चतुरई साधि ।  
 पिय तोहि कसे हिये राखी दियाय ?  
 सुंदर रूप लखत सब कोऊ यहै कसक जिय आय ॥  
 ननन म पुतरी करि राखौ पलकन भोट दुराय ।  
 हियरे म मनहू व अन्तर कस लेउं लुकाय ॥  
 मेरो भाग रूप पिय तुमरो छीनन सोन हाय ।  
 'हरीचंद' जीवनधन मरे छिपत न कशैं इत धार ॥

पिय तुम और कहूँ जिन जाहु ।  
 लेन देहु किन मो रकिन को रूय-सुधा-रस लाहु ॥  
 जो-जो कहौ करौ सोइ सोई धरि जिय अमित उछाहु ।  
 राखी हिये लगाइ पियारे किन मन माहि समाहु ॥  
 अनुदिन सुन्दर वदन-सुधानिधि नैन चकोर दिखाहु ।  
 'हरीचद' पलकन की ओटै छिनहु न नाय दुराहु ॥

पिय तोहि कैसे बस करि राखौ ?  
 तुव दृग मैं दृग तुव हिय मैं निज हियरो केहि विधि नाखौ ॥  
 कहा करो का जतन विचारो विनती केहि विधि भाखौ ।  
 'हरीचद' प्यासी जनमन की अधरसुधा किमि चाखौ ॥

भगवान — तो प्यारी मैं तोहि छोड़िके कहाँ जाऊँगो तू तो मेरी स्वरूप ही है । यह सब प्रेम की शिक्षा करिबे को मेरी लीला है ।

ललिता — अहा ! इस समय जो मुझे आनन्द हुआ है उसका अनुभव और कौन कर सकता है । जो आनन्द चन्द्रावली को हुआ है वही अनुभव मुझे भी होता है । सच है, युगल के अनुग्रह बिना इस अकथ आनन्द का अनुभव और किसको है ?

चन्द्रा० — पर नाथ, ऐसे निठुर क्यों ही ? अपनो को तुम कैसे दुखी देख सकते हो ? हा ! लाखों बातें सोची थी कि जब कभी पाऊँगी तो यह कहूँगी, यह पूछूँगी, पर आज सामने कुछ नहीं पूछा जाता ।

भग० — प्यारी मैं निठुर नहीं हूँ । मैं तो अपने प्रेमिन को बिना मोल को दास हूँ । परन्तु मोहि निहचै है के हमारे प्रेमिन को हम सो हूँ हमारो विरह प्यारो है । ताहो सो मैं हूँ बचाय जाऊँ हूँ । या निठुरता मैं जे प्रेमी है विनको तो प्रेम और बढ़े और जे कच्चे है विनके बात खुल जाय । सो प्यारी यह बात हूँ दूसरेन की है । तुमारो का, तुम और हम तो एक ही है । न तुम हम सो जुदी हो



# शब्दार्थ और टिप्पणी

काव्य, सरशु .....जेहि पर प्रेम—सुन्दर रस शृंगार से युक्त काव्य के, कविता के नियमों के अनुसार दो पक्ष होते हैं—विप्रलम्भ शृंगार, सयोग शृंगार । मैं उन दोनों पक्षों को ससार के मनुष्यों के वहाने ईश्वर के निकट प्रस्तुत कर रहा हूँ, जिन पर मेरा अटल प्रेम है ।

हरि-उपासना.....चन्द्रावलिहि प्रमान—संसार के लोग, अगर वे साधक हैं तो इस 'चन्द्रावली' को प्रमाण मान कर भगवान की उपासना, उनकी भक्ति, ससारका वैराग्य, भक्ति की रसिकता और ज्ञान क्या है, इसकी खोज करे ।

## प्रस्तावना



रगशाला—नाटक अभिनय किये जाने का स्थान, प्रेक्षागृह ।

आशीर्वाद पाठ—अभिनय की निर्विघ्न समाप्ति के लिए मंगल-पाठ ।  
नान्दी ।

भरित नेह... ..मन मोर—जो एक ओर आनन्द का अद्भुत रस बरसाता जाता है, दूसरी ओर नित्य नये प्रेम के जल से भरा रहता है, लोक से अनोखा वह कोई काला बादल (कृष्ण) सदा अपने ऐश्वर्य में विजयी है, जिसे देखकर भक्तों का मन-रूपी मोर नाचता है ।

यह भारतेन्दु का बहुत प्रिय दोहा है, उन्होंने मंगलाचरण के रूप में इसका प्रयोग अपने अन्य कई नाटकों एवं कुछ काव्य-ग्रन्थों में भी किया है ।

अथोर—बहुत, अथाह, अद्भुत ।

अलौकिक घन—सामान्य वादला से भिन्न, लोक में अनायास वाच्य ।

नति नैति तत् शब्द प्रतिपाद्य—नति=न+इति, तत्=वह,  
इन्द्रियो के अनुभव से दूर, भगोचर । नति नैति तथा तत् शब्दों  
का प्रयोग कर जिसके अस्तित्व का प्रतिपादन किया जाता है,  
व्याख्या की जाती है ।

सर्व भगवान्—विष्णु नामवात् भगवान् । सर्व=विष्णु ।

सूत्रधार—नाटक के अभिनय में मुख्य निर्देशक । नाटका मूल अथ  
उसकी सत्ता के लिए है जो कठपुतलियों के धागे पकड़कर रंगमंच  
पर उनका नाच अभिनय कराना था ।

मात्रिय—सूत्रधार के सहायी की सत्ता, आय, श्रेष्ठ ।

पारिपारवक—पास खड़ा रहनेवाला, सूत्रधार का सहायी ।

लीला—अभिनय ।

आरम्भशूर—किसी कार्य के आरम्भ करने मात्र में उत्साही । पूरा  
करने का लगन जिसमें न हो ।

महाराज पृथु—ऋषाकु वंश के अनेक राजा का पुत्र पृथुरोमन् । यह  
पृथ्वी का दोहन करनेवाले सम्राट पृथु से मिल है ।

जग-जन रजन—ससार के लोगों को आनन्द देने वाला ।

तृप्त सम—धाम के समान, तुल्य ।

करि गुलाब सों नाथ उसके सम्मान में पहले मुख की गुलाब जल में  
धोकर, आचमन कर पवित्र होकर, तब उसका नाम लेना चाहिए ।

अविचल—अटल ।

नेपथ्य—रंगशाला में रंगपीठ के बगल का स्थान, जहाँ नाटक के  
अभिनता अपना वेश विधास करते हैं ।

ध्वागिन को अत्याग—विरचना को भी ग्रहण करने योग्य ।

नष्ट-जीव—प्राणी, जिसने कुमार्ग पकड़ लिया है। जिसका अपना सत्य नष्ट हो गया है।

विराग—द्वेष, दुराव।

रगरंजक—रंगशाला को सजानेवाला। (नया प्रयोग)

सलोना—सुन्दर। लावण्ययुक्त।

टोना—टोटका। किसी के देखने से नजर का दोष न लग जाय, उसके निवारण के लिए तांत्रिक उपाय।

मुखचन्द भलमले—मुख चन्द्रमा के समान अपने प्रकाश में भलक रहा है।

जुग—दो।

कमान—धनुष।

प्रेम पुंज—प्रेम की एकत्रित राशि।

स्वर्ग सज कर—नकल बना कर।

प्रस्तावना—नाटक अभिनय आरम्भ किये जाने की भूमिका। इसके तीन भाग होते हैं—नान्दी, जिसमें ब्राह्मण मंगल-पाठ करता है। इसके बाद सूत्रधार आता है, वह दर्शकों को अभिनेय नाटक और उसके रचयिता का परिचय देता है, इसे प्ररोचना कहते हैं। पुनः सूत्रधार कथा की जिस घटनाका आरम्भ सूचित करते हुए वहाँ से जाता है, वह मुख्य प्रस्तावना है।

## विष्कम्भक



विष्कम्भक—(दे० भूमिका)

शुकदेव—व्यास के पुत्र, जो जन्म के साथ ही ब्रह्मज्ञान में लीन हो गये। पुराण-परम्परा के अनुसार इन्होंने कृष्ण का चरित (भागवत) राजा परीक्षित को सुनाया था। ये सदा नग्न और शिशु-भाव से रहते थे।



मेम धम—आचरण व नियम और गाम्भ्य म बहु गये मत मानि धम ।

मतमतातर—मिद्वान्त और विरोधी मिद्वान्त ।

गवहव—राव कुट्ट ।

परमाध—जीवन का अन्तिम अष्ट सन्ध—मोम ।

पुरपार्थ—पुरुष के जीवन की मिद्वि ।

परम प्रेम अनन्तमय एसात भक्ति—भगवान् की बचन भक्ति भाव की उपासना, जो निराम प्रेम की समूह मिलानवाली हाती है ।

आपट्ट स्वल्प ज्ञान विज्ञानादि म उधार—उपासना म धरन धरन मना व प्रति हठ और तक जान के विशा स उत्तम हूँ मिद्वान्त जो भक्ति के माग म धनकार बन कर माने है ।

निगड—बन्धन बड़ी ।

अधिकारा—किसी विषय म सय प्रकार स समय उरयुक्त पात्र । यही वह मायक जा जान उपासना व विना । म दूर हातर भगवान की भक्ति का सहा पात्र है ।

पर मत निराकरण हय बाद विवाद—सा और ज्ञान, जो बवल दूसर व मिद्वान्त के खण्डन व लिए उपस्थित किया गया हा । इस मदिरा को शिवजी ने पान किया है—तुलसी के रामचरित मानस मे जिस प्रकार गिव को राम का भक्ति का परम उपासक बताया गया है उसी का अनुकरण करते हुए यहाँ भी गिव को कृष्ण की भक्ति रूपी मन्त्रि का पीनवाला कहा गया ।

अकथनीय—अनिवचनीय, जो कहने म न था सब ।

अकरणीय—जिसे दूसरा न कर सके ।

माहात्म्य ज्ञान नहीं होता—गोपियों द्वारा प्रेम म भगवान् कृष्ण के बढ्पन का अनुभव न होना कि वे ये परम बहा के रूप है ।

निबल—ससार का आढ़ कर विरक्त ।

देवर्षि नारद—देव जाति के ऋषि नारद जो भगवान् विष्णु के परम भक्त थे। जिनकी चर्चा प्रायः सभी पुराणों में मिलती है। ऐसा प्रतीत होता है कि नारद एक उपाधि थी, इस उपाधि के देव-जातियों में कई ऋषि हुए।

सुर—स्वर।

पिंग—भूरापन लिए हुए रंग, पिशागी, तामड़ा रंग।

जोहत—देखते ही।

मृगपति—सिंह या बाघ।

तान—आलाप।

सात सुर—संगीत के सात स्वर—षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद। इनका संक्षिप्त संकेत है—  
सा, रे, ग, म, प, ध, नि।

अघ—दुःख, पाप।

भव-जल—यहाँ भव-सिन्धु से तात्पर्य है, अर्थात् ससार रूपी समुद्र।  
जुग तूँबन—वीणा के दोनों ओर लगे हुए दो गोल तूँवा। ये तूँवे लकड़ी के बनते हैं लेकिन साधु जन प्रायः कद्दू के गोल फलों का ही बना लेते हैं, यह कद्दू खाने में कड़ुआ होता है।

तय—गाने का तर्ज, सम।

युगल—दो।

आरोहन-अवरोहन—संगीत के चढ़ाव-उतार।

अगम—अपार, बहुत।

अरट—कम न होने वाला।

काँवरि—ब्रह्मगी, जो कंधे पर रख कर ढोई जाती है, जिसमें एक बाँस के डंडे के दोनों सिरो पर छीका या टोकरी लटका कर उसमें सामान रखते हैं। साधु लोग गंगा-जल ढोने में इसका उपयोग करते थे।

भूगोल खगोल—पृथ्वी और सूर्य आदि ग्रहों से भरा आकाश ।

कर भ्रमसर—हाथ में रखे आवले में पलकों देने के समान, चारों ओर से प्रत्यक्ष दिखाई पड़ना ।

कुम्भा—तराजू ।

धोराग—छद्म रागा में एक राग, यह सारद्वन्द्व में गाया जाता है, इसके गाने से मूला वृत्त भी हरा हो जाता है ।

राग मिथु—मंगीत के रागा का समुच्चय ।

ब्रह्म-जीव निरधार—नारद की वीणा के ये दो तबला ब्रह्म और जीव, निर्गुण और सगुण, दैत और भद्र त, नित्य और अनित्य—ईश्वर-सम्बन्धी विवादों के प्रत्यक्ष निधारण (उनके अलग-अलग सुलभाएँ हुए रूप) हैं । दत्त = मध्वाचार्य (तेरहवीं शती ई०) का सिद्धान्त जिसमें ईश्वर और जीव दोनों की सत्ता स्वीकार की जाती है, जैसे कारण और फल दोनों अपना अस्तित्व रखते हैं । भद्र त—आचार्य शङ्कर (आठवीं शती ई०) का सिद्धान्त, जिसमें सब कुछ एक ब्रह्म की ही सत्ता मानी जाती है । परस्पर भेद भाषा के आवरण के कारण दिखाई पड़ता है ।

श्री वृन्दावन—कृष्णभक्ति और पुष्टिमाग में वृन्दावन का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है । इस लोक के बाद भगवान् कृष्ण के जिस गोलोचन की कल्पना है वहाँ वृन्दावन में कृष्ण नित्य शीला कर रहे हैं । प्राचीन काल में यह यमुना के तट पर हरा भरा घना वन था, आज बसा नहीं है ।

प्रजवत्सर्ग—प्रजवत्सर्ग कृष्ण का अनुग्रह जिनकी प्राप्ति है वे गोपियाँ, जो सदा उनके प्रेम में ही लीन हैं । मधुर उपासना में कृष्ण के प्रेम में तल्लीन आत्माओं की भी यह उपाधि है ।

सरि—तुल्य, समान ।

हरि-रस—भगवान् कृष्ण का अखण्ड प्रेम रस ।

निगड़—बन्धन, वेड़ी ।

तून-सम—घास, तिनका के समान सहज टूट जानेवाला ।

छाँही—छाया मे ।

लता-पता—लताओं के पत्ते । अथवा लता और पत्ते ।

रूप-सुधा—रूप (छवि) का अमृत-रस ।

भीजै—भीगना, नहाना ।

श्री महादेवजी की प्रीति के पात्र—शिव की कृपा जिन पर है । भगवान् का प्रेम प्राप्त करने मे शिव की कृपा सहायक होती है, समन्वय चाहनेवाले वैष्णवों की यह मान्यता है ।

श्रीमती—राधा जी ।

लीलार्थ—ससार को अपनी लीला दिखाने के लिए, जिस लीला मे परम प्रेम का आदर्श प्रकट हुआ ।

डगर-डगर—गली-गली, रास्ते-रास्ते ।

श्रीकृष्ण से जल में दूध की भाँति—दूध जैसे जल मे मिलता हुआ अपना अस्तित्व मिटाता जाता है, उसी प्रकार अपना अस्तित्व समर्पित कर ।

वेणु (वंशी) का शब्द—कृष्ण-भक्ति मे वशी और उसके शब्द का बड़ा महत्त्व है, जैसे योग-साधना मे अनहद नाद का ।

## पहिला अंक

जवनिका—परदा । अन्य विद्वान् इस शब्द का रूप 'यवनिका' स्वीकार करते हैं और इसे यूनानी (यवन) नाट्य की देन मानते हैं ।

गिरिराज—गोवर्धन पहाड़ । कृष्ण के गोलोक का यह भी एक अंग है ।

शोच—चिन्ता, वेदना ।

निरा—पूण रूप से ।

तू मृभसे इतना क्यों उड़ती है—वास्तविक बात क्षिपान का प्रयत्न करती है । बहवती है । मुलावा देती है ।

सौगद—घण्ट, कसम ।

मुखड़ा—चेहरा । मुख की आभा या रंग ।

कँसी है—उलभी है ।

अथोक्ति इस रोग का न मिलेगा—प्रेम विरह के रोग का निराकरण, प्रिय के मिलने का उपाय मैं ही बता सकती हूँ ।

डेंट पत्थर की नहीं हूँ—अज्ञान (अचेतन) नहीं हूँ, समझदार हूँ ।

उधरि परत—भेद अपने आप प्रकट हो जाता है ।

न लगे—लगना=चुभना, बठना, गडना । यहाँ इस क्रिया का प्रयोग उपयुक्त नहीं जँचता ।

डुराब—क्षिपाना । घूषट के भीतर आखा के न छिपने के अर्थ में उक्त प्रयोग है, पर तु अर्थ हो जाता है आखें घूषट के भीतर भी नहीं चुभ रही हैं अर्थात् मौन हैं ।

पहेली—समस्या । बुझोवत तथ्य ।

सरूपकानी सी—तज्जा और सदेह के भाव में ।

बायाँ चरण पूजा कहूँ—पुण्ड्रिमार्गीय भक्ति सिद्धान्त के अनुसार चन्द्रावली कृष्ण की हो गई है, अब वह कृष्णमय है उसका दायाँ चरण कृष्ण जी का है । बायाँ चन्द्रावली का है । अतः ललिता बायाँ चरण पूजने को कहती है ।

रुसना—नाराज होना, रुठना ।

पियारे पिय—प्यारे प्रिय को ।

सरिहै—पूरा होगा ।

बेदन—वदना पीडा ।

बापुरो—धैरारा, दीन ।

निठुर—निष्ठुर, निर्दय, दूसरे की पीड़ा को न समझनेवाला ।

लगौंही चितवनि—प्रेम में अनुरक्त दृष्टि (आँखें) ।

थिरत—स्थिर होना ।

निगोड़ी—अभागी । जिसका अपना कोई न हो ।

बानि—स्वभाव, प्रकृति, व्यसन, टेव, चसका ।

रोझते—प्रसन्न होते ।

जुरे—मिले, आसक्त हुए ।

तलफत तनिक दुरे—छवि के तनिक भी छिप जाने पर तडपने लगते हैं ।

निगुरे—अभागे ।

खोइयी—क्रुद्ध हुआ ।

मुरे—मुड़े, हटना ।

विष के बुते छुरे—(आँखें) जहर में बुझायी (डुबायी) हुई कटार के समान हैं, (लगते ही इनका जहर फैल जाता है और मर्म को भेदने वाली पीड़ा होने लगती है ।)

उलझौहें—अपने आपको फँसानेवाले ।

गैन—गयन्द, हाथी ।

होत लैन के इन—लाभ के बदले हानि होती है ।

आवनि—आना ।

मूसकनि—मुसकाना ।

वह धोरो गति...पाछे—धीमी गति की वह मरून चाल, जिससे वह (कृष्ण) गायो के पीछे हाथ में कमल का फूल घुमाते हुए चलते हैं ।

वह देखन चहुँ कोरै—आँख के चारो कोनों से देखने की वह रीति ।

चन्द्रावली कृष्ण के देखने की विशेषता पर रीझी हुई है, जिसमें

कृष्ण की भाँखें अपने चारों ओरों से प्रकाश या प्रेम रस बरमाती  
मातृम पड़ती हैं। (भाँखा के प्रायतःकार होने का वर्णन।)

कुल की कुल त्रासहि—वग की सब लाज।

वियोग और संयोग दोऊ तल्लि न परत है—तुम्हारे वियोग और संयोग  
एक समान हैं, दोनों अवस्थाओं में कोई भेद नहीं मानूँ पड़ता।

प्रेमिन—प्रेम की उपासक।

मइसी की गोभा—जो सभा या एक समूह वियोग की गौरवाविव करे।

पर उसके विरुद्ध तू बिना इच्छा के प्रेम करती है—अपने लिए कोई  
कामना न रखकर प्रिय पर निष्ठावर है।

खोभना—कुद होना।

हाहा ठीठी—हँसी और गप्प म व्यर्थ समय बिताना।

बकवाद—निरर्थक बातचीत।

ओर—सबेर।

## दूसरा अंक



विलक्षण—लग्ग हीन अर्थात् जिसके सम्भले में मनुष्य के सोचे सम्भ  
नियम या सिद्धान्त सहायक न हो, मनुष्य-सौक से भ्रमण।  
अलौकिक, ईश्वरीय।

अलड—कही समाप्त न होनेवाला।

यह अमृत—प्रेम का अमृत। अमृत—कभी नष्ट न होनेवाला सत्ता या  
तत्त्व, जीवन का सजीवन।

बिया—व्यथा, पीड़ा, दुःख।

बकि क जग क्यों परतीतहि छोड़िए—अपने दुःख को मगार के नामने  
कहकर प्रेम व विश्वास को घटाना नहीं चाहिए।

मरम की पार—हृदय की पीड़ा।

बे-बरहम बरहम = दया युक्त, बे-बरहम = जिसमे दया न हो । इस अर्थ मे यह शब्द नया गढ़ा हुआ मालूम पड़ता है । इसके दो और पाठ हैं—बे-बहरम, बे-महरम ।

चित्तें मूरि—मुड़ कर चितवन किया, या तिरछी चितवन कर ।

छाम—क्षीण, दुर्बल ।

कलाम—वचन देना

तोरनही की—तोड़ने की ही, भंग करने की ही, छोड़ देने की ही ।

करिके कहा ऐसे सुभाय रहे—क्या ऐसा करके तुम शोभित होते हो अर्थात् यह करनी तुम्हारे अनुरूप है । अथवा यह अर्थ भी हो सकता है कि ऐसा करके तुम किस स्वभाव (प्रकृति) मे स्थित हो ।

सुभाय—शोभित होना, स्वभाव या प्रकृति ।

कितकों ढरिगो—कहाँ ढुलक गया, कहाँ चला गया ।

छाजना—शोभा देना ।

अनबोलिबे में नहिं छाजत हौ—तुम्हारा न बोलना शोभा नहीं देता ।

दुरि भाजत हौ—छिप कर भाग जाते हो ।

विरुदावली—यश के गीत ।

कलू हात नहीं—कुछ हाथ नहीं लगता, या कुछ होता नहीं ।

जात—जाति ।

भाखना—कहना ।

औघ—अवधि, समय ।

आँखें ये खुली ही रह जायँगी—जीवन नहीं रहेगा ।

छाछ—मट्टा ।

कहि पेखिए का—कहाँ क्या देखिए ?

बेवहार—व्यवहार, व्यापार । उपयोग, प्रयोग ।

कांचन को लें परेखिए का—काच (शीशा) को ले कर क्या परीक्षण कीजिएगा ?



निरजन—जन से रहित, मून सान ।

राजा चन्द्रभानु—वरमान के गापो क राजा ।

बक्यो कर है—प्रलाप करती है ।

बन के स्वामी—कृष्ण । वनवारी ।

अपने सों बाहर होय रही है—अपनी चेतना में नहीं है ।

अलख लखती—अलख (अलक्ष्य, ईश्वर कृष्ण) की दुलारी ।

चोर, छलिया, लुटारा—य सनाएँ यहाँ कृष्ण के लिए प्रयुक्त हुई हैं ।

मोरो—मोर पक्षी (सम्बोधन) ।

रुख—वृक्ष ।

कित तिघारो—कहाँ गया ।

बदम्ब—एक वृक्ष जो बरसात में पूलों से भर उठता है ।

अम्ब—घाम ।

निम्ब—नीम ।

बकुल—मोलसिरी ।

तमासा—पहाड़ और समुद्र के किनारे होनेवाला एक सदाबहार वृक्ष,  
जो २० हाथ ऊँचा होता है । यह वृक्षाक्ष में पुलना है, पुल  
सपेद और बड़े हावे है ।

नदसाता—नन्द का दुलारा ।

विरुध—(वीरुध) लता । जड़ी बूटी के पीधे ।

तृन—घास । कुश, दूब, सत्पत आदि ।

आभरण—आभूषण, गहने ।

जकी सी एक रूप आज न्यामा भई श्याम है—अपने प्रेम की लगन  
(धुन) में प्रिय का नाम रटती हुई वह प्रसिद्धा अब अपने को प्रिय  
(कृष्ण) रूप में ही अनुभव कर रही है ।

एसा हो बढी थी—ऐसा ही होना था । अर्थात् यह उक्ति नहीं है ।

विधिना—ब्रह्मा, भाग्य ।

कल्लू नहीं निबही—थोड़ा भी निर्वाह न हुआ ।

अनत—अन्यत्र, दूसरी जगह ।

चात्तिक—चातक, पपीहा, जो बादल से गिरती बूँदों का ही पानी पीता है, यह प्रसिद्धि है ।

पानिप रूप सुधा—पानिप (चमकते हुए जल के) रूप (स्वरूप) का अमृत । पानिप=कान्ति, चमक, पानी ।

विजुरी—विजली ।

मेह—बादल ।

गरजो चाहे लरजो—गरज कर वर्षा करो, या डर कर भाग जाओ—  
प्रकट होकर प्रेम रस पिलाओ अथवा लोक लाज से डर कर दूर रहो ।

आनन्द घन, श्याम घन—ये संज्ञाएँ कृष्ण के लिए प्रयुक्त हुई हैं ।

पण्डिताइन—ज्ञानवाली (व्यग्य मे)

कुलकानि—कुल के नियम, कुल की मर्यादा ।

चार चवाइन—जासूस, चुगलखोर ।

शिष्टाचार—शिष्टाचार, भले लोगों के आने पर किया जानेवाला व्यवहार ।

कुलच्छिनी—बुरे लक्षणवाली, जिससे कुटुम्ब को कलक लगे ।

अनमेख—अनिमेष, टकटकी बाँध कर ।

पेख—देख कर ।

अति छबि सो छयो—उत्कृष्ट शोभा के साथ छा रहा है ।

ग्वाल उडुगन—ग्वाल (चरवाहा) रूपी तारा गए ।

मान कमल—मान-रूपी कमल ।

गोरज समूह घन पटल—गौश्रो के आने से उड़ती हुई घूल-रूपी बादल की पक्ति (परत) ।

गोपकुल कुमुद निसाकर—गोप जाति-रूपी कुमुद फूल को खिलानेवाले चन्द्रमा (कृष्ण) ।

वह जातही पूछेगा—वह जाते ही (पहुँचते ही) प्रश्न करेगी ।

विरताज—सि रोमणि ।

निष्पावाद जहाज—भूटे बादा का व्यापार, व्यवहार करनेवाले ।

अति परसो तन रंगे और के रंग अघर तुव जूठे—मेरे शरीर का स्पर्श न करो, तुम दूसरे के प्रेम में अभ्युरक्त हो, तुम्हारे होठ दूसरे के द्वारा जूठे हैं ।

सोउ न भाव जो भाव न भाइए—वह सुख भी उदय नहीं होता जब तक भाव नहीं आने ।

रुसना—रुष्ट होना, नाराज होना ।

कनौड़ी—एहसानमंद, उपकार से बोधित ।

मुख मोन—मुख के भवन, मुख देनेवाले ।

राधिका रीन—राधिका-रमण (कृष्ण) ।

राजवस—राजवश, यह सत्ता वस्तुतः राजहंस—हंस की जाति विशेष को लक्ष्य कर प्रयुक्त है ।

मेरे मानस सों—मेरे मानस से अर्थात् कृष्ण से । मानस पद में इन्नेप है हंस के पक्ष में मानसरावर भय है ।

दु ख के गोभा—दु ख के अकुर ।

हृत्पारित वर्पा ऋतु—विरह को सन्नाप बसा कर प्रेमिया का प्राण हरनेवाली वर्षा की ऋतु ।

सुहाने—प्राप्तो हो अच्छे लगनेवाले ।

उमाह—उमग ।

### अकवितार

अशक्तार—(दे० भूमिका)

बोयो वल—रास्ते के बितार के पत्र ।

साव—उस पर ।

निपूते—नष्ट-पुत्र अर्थात् उसका लड़का मरे, निर्वंश हो (गाली) ।

सांड—विना वधिया किये बैल ।

सुवल—नाम विशेष ।

तूमड़ी—कद्दू की तूँबी का बना हुआ वाजा, जिसे प्रायः सँपेरे बजाया करते हैं ।

लहकाय दोनी—लोहकारना, पीछा करने के लिए उत्साहित किया ।

रपट्टा में—दौड़ की लपेट में ।

कौन गति कराऊँ—खूब दुर्दशा कराऊँगी ।

हाट—बाजार ।

आय घरो—आ पड़ी, पकड़ उठी ।

यारै—प्रेमी को ।

खुटकोऊ—चिन्ता या घबड़ाहट भी ।

अरराईं—वेग से गिरना, यहाँ झपटने के अर्थ में ।

लोक-वेद—लोक अर्थात् कुल और समाज की मर्यादा, वेद अर्थात् धर्म और शास्त्र के आदेश ।

अपना-बिराना—अपना तथा कुटुम्बी-जनो का सम्बन्ध ।

घहराय—तेजी से गिरना, यहाँ अचानक गिरने के अर्थ में ।

कपोतव्रत—मौन हो कर दुःख सहना ।

बिवाई—पैर के तलुवा और एँड़ी का फटना । यह रोग प्रायः जाड़े में होता है, कभी-कभी खून निकल आता है और बड़ा कष्ट होता है ।

गुप्त प्रीति—छिपा हुआ प्रेम ।

ससार की रीति—कुटुम्ब और ससार की मर्यादा ।

बूढ़ों के से सुर से—बूढ़ों की जैसी बोली में ।

बूढ़ी फूस सी डोकरी—पुराने छप्पर के समान शिथिल-शरीर बुढ़िया ।

बूढ़ी फूस=पुराना छप्पर ।

## तीसरा अंक

निशान—भड़ा, पताका ।

करखा (कडखा)—वीरो को उत्साहित करनेवाला प्रशमा-गीत ।

निगोडों की—दुष्टों की ।

उमगा—उमगो से भरना ।

कुल की मर्यादा ही पर चढ़ाई है—अर्थात् उस मर्यादा-वाल को देखकर काम पीड़ित नारी का कुलधम टूटने को हो जाता है ।

जो आप कामिनी हो—जो स्वयं काम की अभिलाषा से भरी हो ।  
(योग्य म) ।

सकपके-से—शांत मनमारे जस ।

बीर बहूटी—लाल रंग का बरसाती कीड़ा, इसको धोबिन भी कहते हैं ।

करारे—नदी के ऊँचे किनारे (किनारे की भूमि) ।

गारद—(गारत)—बरवाद, नष्ट ।

बटे कृष्ण—नाम विशेष ।

भांडीर बट—भांडीर (नामक) वन (विशेष) का बरगद वृक्ष ।

भलना—अभाव से तरसना ।

सरजना—कपिना, हिलना ।

एकतार भमाका—बिना बूद तोड़े, लगातार होने वाली भम्म भम्म जल-  
वृष्टि ।

खमारी—जागने से आखा म छापी हुई नशा ।

बिसात—हैसियत, शक्ति सामर्थ्य ।

कान फुक्वाना—कान म मंत्र न्ये जाने की प्रथा, जिसका आरम्भ  
वर्णव धम के आचार्यों ने मध्यकाल में किया ।

पीर—पीड़ा ।

बदम—बदम्ब वम्ब ।

- उपाय एक विषय ही है—जहर पीकर मर जाना ही एक रास्ता है ।  
 प्रेमी के अभाव में जहर पी कर मर जाने का संकल्प बहुत  
 समीचीन नहीं है, भारतेन्दु जी ने ऐसा वर्णन सम्भवतः तत्कालीन  
 बंगला साहित्य से प्रभावित हो कर लिखा है ।  
 बई मारो—दैव (ईश्वर) जिसको मारे (जिस पर कोप करे)—शाप या  
 क्रोध के साथ अपना अनिष्ट करने वाले का नाम लेना ।  
 अटारी—संस्कृत की अट्टालिका, भवन का ऊपरी भाग ।  
 चुच्चन—लुच्चा का स्त्रीवाची, अर्थात् मर्यादा तथा धर्म के विरुद्ध आच  
 रण करनेवाली स्त्री ।  
 चूनरी—(चुनरी) लाल रंग की साड़ी, जिस पर दूसरे रंग की वृष्टियाँ  
 या बुनियाँ बनी हो ।  
 सगबगी—सराबोर या तर हो कर ।  
 बलैया लेना—प्यार करना ।  
 गांती—चादर ओढ़ने का एक ढग, जिसमें उसको शिर-गले से लपेट कर  
 कंधे पर ओढ़ लेते हैं ।  
 सांग—पीछे खोसा जानेवाला धोती का छोर, काछ ।  
 पेंग—भूले का ऊपर-नीचे झुलाया जाना ।  
 हूलति—पीड़ित करती है ।  
 चाव—इच्छा, चाह ।  
 घन घोरे पं—बादलों की उमड़ी घटाओं के समय ।  
 बारि बारि डारी—बार-बार निछावर कहे ।  
 मुरनि—मुड़ कर देखने की चाल-ढाल पर ।  
 बतरान—घातचीत पर ।  
 ऊनरी घटा में देखि दूनरी लगी है—उमड़ी हुई घटाओं पर दुवारा  
 घटाएँ गिरती आ रही हैं ।  
 मा रत में—इस वर्षा ऋतु में ।

धलत्याग—अधिकार ।

छोटी स्वामिनी—चन्द्रावली के लिए प्रयुक्त, जो कृष्ण के लिए राधा के कनिष्ठ है ।

दिसकी—अमुक (स्त्री के लिए), स्वनाम के अर्थ में प्रयुक्त ।

हम्ब घोर—हाँ, सती ।

धुगली लार्ई—निंदा किया ।

रात छोटी है और स्वाग बहुत है—रात का अर्थ यहाँ जीवन है और स्वाग का अर्थ है—जीवन के काम या प्रेम लीलाए । चन्द्रावली का आगे का वाक्य इसी का उल्टा हो गया है—जीना छोटा और उत्साह बड़ा ।

आसरा—सहारा ।

सुजान कहनाते हो—सज्जन के सत्यपालक कह जाते हो ।

बकरा जान से गया स्वाद न मिला—प्राण द कर भी आप को प्रसन्न न कर सकी ।

हवस—उमग, दुःखा ।

प्रगट हाकर मुह क्या नहीं बंद करते—मुझ प्रत्यक्ष ग्रहण कर मरा कलक क्या नहीं मिटात, जिसमें मुझ पर कोई अपवाद न लगाता ।

बनीडा—उपकृष्ट, एहसानमन्त्र ।

मधमार मे डुबा कर भोगते हो—जब अपनी रसधारा में मुझ डुबा लिया, तब मरा अस्तित्व ही बर्ही रह गया, जो अलग में ऊतराई दूँ ।

भामिनी—शील युक्त सुन्दरी स्त्री ।

भौंड़ी—अशिष्ट ।

भानिनी—मान अभिमान करने वाली ।

मोड़ी—बालिका, लड़की ।

कनौड़ी—बदनाम ।

गाली—निन्दा, दुर्वचन ।

मर्म वाक्य—हृदय पर चोट पहुँचाने वाले वचन ।

निर्दय—जिसे दया न आती हो ।

निर्घृण—जिसे अपने बुरे कामों से घृणा न होती हो ।

बखेड़िये—प्रपञ्च करने वाले । संसार का प्रपञ्च रचने वाला ।

जन्तुहम—नरक ।

तुर्रा—अनोखापन, ज्ञान ।

सब धान बाइस पैसेरी—अच्छा, बुरा—सभी एक समान ।

निर्दय हृदय-कपाट—जिसके हृदय का किवाड़ ममता-रहित है, अपने प्रेमी का स्थान देने के लिए नहीं खुलता ।

पचड़ा किया—प्रपञ्च किया ।

बेहयाई परले सिर की—असीम(बेहद) निर्लज्जता ।

नाम बिके—नाम विकता है, नाम की प्रसिद्धि है कि आप शरणागत का उद्धार करते हैं । परन्तु ऐसा है नहीं ।

क्यों विषमय संसार किया आनन्द स्वरूप होकर दुःख और पीड़ा से भरा जगत् क्यों रचा ?

बेहयाई—बे-हयाई (लज्जापन), लज्जा की परवाह न करना ।

अनूठे—जिसकी दूसरी उपमा नहीं ।

माथा खाली करना—बुद्धि में जितनी समझ हो सब बातें कह देना ।

मूल उपद्रव तुम्हारा ही है—सृष्टि के 'तुम ही मूल कारण हो, इसलिए समस्त दुःख, पीड़ा तुमने ही पैदा किये हैं । (ब्रह्म-रूप कृष्ण के प्रति उलाहना) ।

सिफारशी नेति नेति कहेंगे—वेद-शास्त्र में तुम्हारी महिमा गानेवाले तो



सोयन—सोचन भास ।

गेरुभा बागे (बागा)—बागा=एक पुराना पहनावा जामा । गेरुभा रंग का जामा ।

तिरार्ई—गीतलता या विश्राम पाना । यहाँ मानदिन हुई ।

चोर चकार—चोर और चार-अक्ष दुसर उचक्का भादि ।

तरनि-तनूजा—सूय की पुत्री यमुना नदी ।

मुकुर—दपण । यहाँ जन का उपमान । अर्थात् जल रूरी दपण म ।

आतव-बारन—गरमी मिटाने के लिए ।

सवालन—तालाब म होने वाली घास, सवार ।

जमुन—यमुना नदी ।

गोभा—अकुर । कुमुदिनी के फूल ऐसे खिले हैं मानो प्रेमी प्रेमिका के प्रेम के अकुर उग रहे हैं भरते-दु जी की यह उत्प्रेक्षा सबका नवीन है ।

पूजन को उपचार—पूजा की सामग्री ।

दिग—निश्चय, समीप ।

सात्विक अरु अनुराग बोड—सात्विक और अनुराग दोनो भाव जो क्रमशः शुभ्र कुमुद और लाल कमल के फूलों के रूप म खिले हैं ।

राका निसि—पूणिमा की रात्रि म ।

तान तनावति—चंदोवा तान देनी है ।

ओभा—आभा, चमक ।

छुटावत—मानदित होते हैं ।

क तरंग कर मुकुर सिये—लहरो के बीच धँद्रमा के झलकते अनेक विम्ब लहरो क हाथ मे दपण के समान हैं ।

रास रमन में—रास-श्रीद्व मे ।

पवन-भावन-बस—हवा चलने से लहरें उठने के कारण ।

बाल गुडी—कागज की पतंग ।

अवगाहत—तैरती हुई ।

जुग पच्छ—कृष्ण और शुक्ल दो पक्ष ।

तारागन ठगन—तारागणों से आँख मिचौनी करते हुए ।

रजत चकई—चाँदी की बनी चकई । चकई—एक खिलौना है जिसको लडके टोरे में बाँध कर हाथ से उछालते और लपेटते हैं ।

निसिपति मत्तल—चन्द्रमा रूपी पहलवान ।

कलहस—हस की एक जाति । सवन ।

पारावत—कवूतर ।

बारंडव—हम-बत्तख की जाति का एक पक्षी । नीलसर ।

जल कुक्कुट—जल के किनारे रहने वाला एक पक्षी, जलमुरगी ।

चक्रवाक—चकवा पक्षी, जिसके सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि सध्या होने पर वह अपने जोड़े से बिछुड़ जाता है । सुरखाव ।

वक—वगुला ।

सुत-पिक—तोता और कोयल ।

भ्रमरावलि—भौरो की कतार ।

पावड़े—सम्मान और स्वागत के लिए रास्ते में बिछाया जानेवाला कपड़ा ।

रत्नराशि—रत्नों के ढेर ।

दूल मै—तट पर ।

मुक्त माँग सोभित भरी—मानो मोतियों से सँवारी गई माँग शोभित हो रही है ।

सतगुन छायो.....हिय हरसि—ये बालू के कण यमुना के तट पर नहीं फैले हैं, ब्रज भूमि को देखकर सत्त्व गुण ही स्वयं हृदय से प्रफुल्लित हो कर किनारे पर डेरा डाले हैं ।

वैहना—बहन ।

कवितार्ई की मोट की मोट खोलि दोनो—मोट बलो द्वारा बुए स पानी

निवालने का धमडे का उपकरण । कविता का धारा बहा दी ।

बिलमार्ई—रक्ता ठहरना । यहाँ घर के काम में व्यस्त होन में प्रय है ।

जरदी—पीलापन । यहाँ दु स भोर उदासी से मुख का पालान ।

उमड आया—उमड उठा, बहने लगा ।

धरो सो—छली गई हो ।

भको सी—नशे में भवेत जसी ।

जकी सी—प्रिय के रट में अपने को भूली हुई जमा ।

खिलौना सी धरी रहै—सुध-बुध खोकर यह एसा निश्चय पड़ी है जने

खिलौना की भूति रखी हो । भारतेन्दु जी की यह उपमा से स्तुत

चित्राविताग्भ इवावतम्भे (रघुवश) इस उपमा का नया रूपांतर है ।

जीवति मरी रहै—जीवित होकर भी मरी के समान है ।

मुरछि—मूर्च्छित होकर ।

वखत—वस्तु, समय ।

फिकिर—फिन्न, चिन्ता ।

अतीतनको—(यती तन)—रमता योगी जनो का ।

गादी—गद्दी । गुरु का स्थान ।

न न कहें गुरुमन उपदेश—प्राप्ति के कहन पर गुरु स्वी मने

ने विरह की मिद्धि करने की साधना का उपदेश दिया ।

तो सत्तार का जागतो और ही रक्म को है—ममार म यागी जन दास्त्र

सम्मत योग दुःखयोग की साधना करत है, वह तो इस विरह-मिद्धि-

योग से भिन्न है ।

का—क्या ।

पधि मरत—साधना में समय नष्ट करने हैं ।

मुद्रा—विशेष प्रकार के पत्थर का छल्ला, जिसे योग-साधक नाथ पथी साधु अपने कानों में पहनते हैं।

लटकाई लटकारी—काली लम्बी लटे लटकाई है।

मन के-मनके की—मन की मनियाँ की। प्रिय को प्राप्त करने के लिए मन की माला की मनियाँ बना कर उसका नाम जमो।

खाक—राख।

तमोल—पान का बीड़ा।

पीना प्याला भर.....खुमरी—प्रिय की छवि को एक बार भर आँख देखना और उसी की नशा में भूली रहना।

है पथ हमारा नैनो.....जाना—नैनो के मत = आँखों के कहे, के अनुसार। आँखों की शिक्षा पर चलना ही हमारे योग-साधन का पथ है।

शिव से जोगी .....सिखाना—शिव जैसे पुराण-प्रसिद्ध योगेश्वर को भी, योग सिखाने, उनका गुरु बनने का साहस रखना।

जी को बेधे डालता है—हृदय में चुभ रहा है।

चोटल—जिसे चोट लगी हो, चोट खाया हुआ। चोटहा।

भई प्रेम बनवासी—प्रेम के लिए बनवास लिया है।

पीतम रूप उपासी—प्रिय के रूप की उपासना करती है।

जोग स्वाँग सामान—योगी के वेश आदि योग के आडम्बर की सामग्री, डगर डगर—रास्ते-रास्ते में।

कलेजा ऊपर को खिंचा आता है—मन के भाव प्रसन्नता में प्रकट होना चाहते हैं। हृदय निछावर होना चाहता है।

मीठी बोलन—प्यारी, मधुर बातें।

वाहुने मेहमान।

बहाला बता—बहाल बाजी करे ।

मुस्तद—तयार ।

जुगुन पिया प्यारी की—अभिन्न हो कर भी दो रूपों में प्रकट प्रिय और

प्यारी—कृष्ण और राविका की ।

यारी की—प्यारी (राधा) का ।

छवि या पर बलिहारी की—निष्ठावर किया है अर्थात् इस युगल शोभा के सामने त्रिलोक का बड़ा वभव नो तुच्छ है ।

रति गति मति—प्रेम साधना, ज्ञान । अथवा उनके जो भी लक्ष्य हैं ।

वरार—प्रतिपा । वचन देना ।

चकित मृगा सी—घबटाई हुई हरिणी जसी ।

सगी सी—ध्यान में गड़ जाना निश्चल बठना ।

भूनि ध्वरी (बखरी)—बाणी को भूल कर । चुपचाप, मूक ।

उस पर जले पर मोत—जमे जमे धाव पर नमक पड़ जाय तो पीड़ा और भी असह्य हो जाती है वैसे ही यह विरह का गीत मुझ वियोगिनी को अत्यन्त अशक्त कर रहा है ।

बेबसी—बिबशता, लाचारी ।

पत—तज्जा ।

चमाई—उदनामी करने वाले, निदक, चुगलखोर ।

घरि है उलटा नाऊ—उलटा नाम प्रनिड करेंगे अर्थात् बदनाम करेंगे ।

सखान शिरोमनि मुजानो (सिक्जानो) में भेड कृष्ण ।

पट्टका—दुन्दटा या रुमास (जिसमें कमर बाधन है कमर-बन्द) ।

बाहर घर लगाइ करोगी समाधि—एक ओर गले में लगाऊँगी और दूसरी ओर हृदय की समाधि में छिपा लूँगी ।

कसक—हलका दर्द, अरमान, मन में रहनेवाला द्वेष । यहाँ अन्तिम अर्थ का प्रयोग है ।

अमित उछाह—असीम उत्साह ।

समाह—समाग्रो, भीतर बैठो ।

नाखों—एक कर दूँ । नाखना = फेकना, गिराना ।

जनमन की अनेक जन्मों की ।

अरुण आनन्द—आनन्द जो चाणी से न कहा जा सके, अनिवर्चनीय ब्रह्मानन्द ।

निठुर—निष्ठुर, दया-हीन ।

प्रेमी को बिना मोल को दास हूँ—मैं सदा अपने प्रेमी-जनो के वश में रहता हूँ, उनमें भले ही कोई साधना और योग न हो ।

बिनको—उनका ।

सुखेन—आनन्द से. निश्चिन्त ।

टहलनी—सेविका, दासी ।

अरुण कहानी—कहने से न चुकने वाली (सदा असमाप्त) गाथा ।

परिलेख—लेखा-जोखा ।

प्रेम की टकसाल—प्रेम की निर्माणशाला ।

रूप सुधा रस सिन्धु बहों री—स्वरूप रूपी अमृत रस के समुद्र में डूबेगी ।

जिंय उमहो री—हृदय में उल्लसित हो रहा है ।

राधा चद्रावली कृष्ण ब्रज जमुना गिरवर—पुण्ड्रिमागीय भक्तिसिद्धान्त में ये नाम अत्यन्त पवित्र माने जाते हैं और इनका स्मरण किया जाता है ।

भरत को बावय—भरत-बावय, दर्शको के लिए की जानेवाली शुभ-कामना ।

परमार्थ—जीवन का अन्तिम परम लय मोक्ष, कृष्ण के समीप पहुँचना ।

स्वारथ—सासारिक सुखा का प्रपञ्च ।

आचारज—धर्म के आचार्य ।

वल्लभ—वल्लभ (पुष्टि भार्गीय) सिद्धांत का अनुयायी अथवा वल्लभ (कृष्ण) का प्रेमी ।

यह इतन हीरा हरि प्रेम को रहै—कृष्ण का प्रेमी, रत्न कटोरीपक का भाँति जिसे कभी बुझा का डर नहीं है । मसार को श्काश देता रह ।



समाप्त

